स. ४
२२०

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

13.3

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust eGangotri

पुरुषार्थसिद्ध्युपायः

सं. ४८

卐

२२०

उग्रसैन जैन एम. ए.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२
वर्ग संख्या ..... स्त. ४० प्राप्ति-संख्या 220

ग्रन्थ-कार्ड

श्री गणेश वर्णी दि० जैन (शोध) संस्थान

ग्रन्थागार

नरिया, वाराणसी-५

ग्रन्थ नाम ..... पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सं. ४७

ॐ

२२०

श्रीमदमृतचन्द्रसूरि विरचितः

(जिनप्रवचनरहस्यकोषः)

पुरुषार्थसिद्ध्युपायः

(स्वर्गीय पं० टोडरमल्लजी कृत भाषाटीका)

के

आधार पर सरल हिन्दी भाषा

में

श्रीयुत पण्डित उग्रसेन जैन एम. ए.

वकील रोहतक द्वारा सम्पादित

और

लाला लालचन्द जैन बी. ए. एल. एल. बी.

ऐडवोकेट, प्रेसीडेण्ट जिनवाणी प्रकाशन विभाग

सब-कमेटी दि० जैन मन्दिर सराय रोहतक द्वारा प्रकाशित

वीराब्द २४७६--सन् १९५०

तृतीय संस्करण २०००] [मूल्य १॥)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुद्रक—
ऑरगैनाइज़र्ज़ ऐसोसिएशन औफ़ इन्डिया, चाह रहट, देहली
द्वारा
लोकमान्य प्रेस, देहली में मुद्रित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री० सौ० नर्मदाबाई जैन

डोंगरगढ़

प्राक्-कथन

लाखों बरस तक भूगर्भ के अन्धकार में पृथ्वी के भार से दब कर, काला कोयला अपनी कालिमा को दूर करके चमकता हुआ हीरा बन जाता है। किन्तु जब खानि से निकाला जाता है उस समय वह धुंधला कांच सा होता है। यन्त्रों में विशेष घर्षण और मार्जन की यन्त्रणा से उसमें कान्ति, जगमगाहट और पारदर्शिता आजाती है, और फिर वह राजा के मुकुट तक पहुंच जाता है।

इसी प्रकार यह जीवात्मा अनादिकाल से नरक निगोद में दबा पड़ा है। वहां से निकलने पर भी एकेन्द्रियादि पर्य्यायों में इसका चैतन्य गुण छिपा सा रहता है, प्रकाशित नहीं हो पाता। मनुष्य जन्म पाकर सद्गुरु के संसर्ग और सम्यक् चरित्र की रगड़ से इसका अनन्त ज्ञानादि स्वचतुष्टय प्रकाश में आता है. और यह सर्वोच्च सिद्ध पद को पहुंच जाता है।

जीव को पुरुष भी कहते हैं। पुरुष अपने अर्थ की सिद्धि. अपने मतलब की प्राप्ति, अपने स्वात्म तत्व का लाभ, किस प्रकार करे, इसका उपाय, घट बढ़ हजार वर्ष हुए, श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने एक ग्रन्थ की रचना करके बताया, और यथा नाम तथा गुणः की लोकोक्ति अनुसार उस ग्रन्थ का नाम "पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय" रखा। इस महत्व पूर्ण जैनागम में जिन धर्म का सार सरल संस्कृत श्लोकों में संक्षेप से भर दिया है।

इस ग्रन्थ में मंगलाचरण रूप से पहले सर्वज्ञ का स्वरूप,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

फिर उन वीतराग हितोपदेशी जगद्गुरु के स्पंदरहित होठों से, कण्ठ तालु आदि शब्द स्थान के हिले विना, निरक्षरी स्याद्वाद द्वादशांग वाणी का व्यवहार और निश्चयात्मक विवेचन, फिर रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग का दिग्दर्शन और सम्यक् चारित्र के मूल अहिंसा सिद्धांत का प्ररूपण किया है। अहिंसा धर्म का विस्तार संक्षेप रूप, थोड़े शब्दों में ऐसी विशिष्टता से किया है कि एक एक वाक्य पर एक एक ग्रन्थ लिखा जा सकता है।

अहिंसा धर्म कहने को तो जगद्व्यापी है, यहूदी, ईसाई, बौद्ध, मुसलिम, हिन्दू, सिक्ख, पारसी, आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज देवसमाज, राधास्वामी, थियासोफी आदि सबही मतों में अहिंसा को धर्म का मूल माना है, परन्तु प्राचीन काल से अब तक किसी न किसी रूप में थोड़ा बहुत हिंसा का प्रचार होता रहा है, और अहिंसा के सिद्धांत पर पूरा आचरण इन में से किसी भी धर्म में नहीं किया जा रहा है !

ऐसा क्यों है इसका स्पष्टीकरण जैन सिद्धांतानुसार भली प्रकार होजाता है। संसारी जीव अनादिकाल से अज्ञान अवस्था में है, नरक निगोद में रहा है नारकी जीवों के परिणाम गति स्वभाव के कारण क्रूर होते हैं, एक दूसरे को आरे से काटते हैं, मुगदरों से मारते हैं, पैने शस्त्रों से छेदते हैं, घानी में पेलते हैं, और आग में जलाते हैं। नरक का जीवन निरन्तर तीव्र वेदना रूप है और पारस्परिक हिंसा ही में व्यतीत होता है, पशु पर्याय में भी अनेक योनि ऐसी हैं जहां यह जीव प्रचुर हिंसा में रत रहता है। शेर, भेड़िया, नेवला, कुत्ता, बिल्ली, सांप मकडी, चील, गिद्ध, आदि छोटे पशुओं को मार कर खाते रहते हैं। यह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनादि मिथ्या संस्कार मनुष्य जन्म मिलने पर भी लगा रहता है, जीव उल्टे रास्ते पर ही चलता रहता है। माता के उदर में उल्टे मुंह लटका रहता है, मुंह का काम नाभि से लेता है, और सिर के बल ही जन्म लेता है। फिर इसमें क्या आश्चर्य है कि मनुष्य भव पाने पर भी प्रायः इस जीव की बुद्धि विपरीत ही रहती है।

यही कारण है कि बाइबिल, कुरान, वेद-पुराण आदि धर्म ग्रन्थों में अहिंसा का सिद्धांत मानते हुए भी कहीं कहीं हिंसा का प्रचार किया। "Thou shalt not kill" "तू वध नहीं करेगा" यह ईश्वर के १० आदेश में बाइबिल में दिया है। किन्तु इसका अर्थ यह लगाया जाता है कि इस वाक्य में केवल मनुष्य हिंसा का निषेध किया गया है। महा पुरुष इबराहीम ने अपने पुत्र को अपने हाथ से काट कर ईश्वर की भेंट करना चाहा। वह हिंसा न थी पुण्य कर्म था। यज्ञ में पशु हिंसा का व्यवहार मिसिर, यूनान, इटली, इंग्लैंड आदि देशों में होता रहा है। हिंदू धर्म में यज्ञ बलिदान,गोमेध,अश्वमेध,अजमेध, नरमेध तक को हिंसा नहीं बल्कि धार्मिक कर्तव्य कहा है। योरोपीय देशों में तो यज्ञबलि प्रथा कम होती जाती है। किंतु भारतवर्ष में हिंदू और मुसलमान दोनों पशुबलि को अब तक धर्म का अंश मान रहे हैं। देशीय राज्यों में दसहरे के दिन भैंसे और बकरे काटे जाते हैं। और बिंध्याचल, कालीघाट आदि स्थानों और देवियों के मठों पर बकरे, मुर्गे, कबूतर आदि पशु हर साल लाखोंकी संख्यामें वध कियेजाते हैं। हमारे मुसलमान भाई गावध को धर्म का अनिवार्य अंश मान कर गोबलि उत्सव ईद के दिन मनाते हैं, जिससे हिंदू धर्मानुयायियों के हृदय को आघात होता है, और परिणाम यह होता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है कि हर साल आपस की लड़ाई में बहुसंख्यक मनुष्य घायल होते हैं, और जेल की सज़ा पाते हैं और पारस्परिक द्वेष बढ़ता जाता है।

यज्ञ में बलिदान मांस प्रसादरूप खाने से मांसाहार वृत्ति भी प्राचीन काल से चली आरही है। मांसाहार से रोगकी संभावना रहती है, शाकाहार, फलाहार, दूध, दही, मक्खन,घी स्वास्थ्यप्रद और बलप्रद हैं। प्रत्येक धर्म में मांसाहार को वर्जित और हेय कहा है। किसी धर्म के भी साधु संन्यासी मांसाहार ग्रहण नहीं करते। खेद है कि बौद्ध धर्मके प्रतिपालक चीन जापान ब्रह्मा देश निवासी मांस को सर्वथा अभक्ष्य नहीं समझते, किंतु बौद्ध धर्म में मांसाहार हेय और निषिद्ध है। पाश्चात्य देशों में मांसाहार का प्रचार कम हो रहा है।

धर्म के नाम पर घोर संग्राम और भयंकर मनुष्य हिंसा संसार में होती आई है तीर्थस्थान के सम्बंध में ईसाई और मुसलमानों में बरसों तक युद्ध रहा, जिसको ईसाइयों ने क्रूसेद Crusade और मुसलमानों ने जहाद कह कर धार्मिकपुण्य संचय का कारण समझ लिया। ईसा मसीह को धर्म द्रोही कह कर सलीब पर चढ़ाया, और निर्दयता से उसकी जान ली। उनके शिष्यों और अनुयायियों को कई शताब्दि तक अत्यन्त निष्ठुरता से सताया गया और वध कियागया। ईसाईयों के आपस में भी शताब्दियों तक तीव्र द्वेष रहा। Inquistion और Star Chamber के नाम से जिन अत्याचारों का सम्बंध है, उनके विवरण से हृदय कांप उठता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राजनैतिक हिंसा भी पराने जमाने से होती आई है, और वर्तमान समय में तो हिंसा के उपकरण बहुत ही बढ़ गये हैं, तीर तलवार की लड़ाई में तो आमने सामने युद्ध होता था, और अब तो बिना देखे, मीलों की दूरी से या आकाश की ऊंचाई से एक समय में अति संख्यक प्राण हरने वाले, वस्तियों को विध्वंस करने वाले बम के गोले, गिरजा, अस्पताल, स्कूल, कालिज, गोदाम, कारखाने, होटल, दफ्तर आदि का सर्वनाश कर देते हैं।

विज्ञान के नाम पर भी निर्दयता से असंख्यात प्राणियों की हिंसा की जाती है। खरगोश, मेंडक आदि को काट काट कर शरीर रचना और नसा जालके भेद बतलाये जाते हैं। बंदर, कुत्ता आदि को विविध प्रकार की शारीरिक यंत्रणा देकर, उनका परि-णाम देखा जाता है। पशुओं की नशा ग्रन्थियां काट कर औष-धियां बनाई जाती हैं। किंतु रोग बढ़ता ही जाता है, कम नहीं होता।

नगर प्रबंध, स्वास्थ्य रक्षा, कृषि रक्षा आदि के नाम से भी प्रबल संकल्पी हिंसा की जाती है। चूहों और कुत्तों को मार डालने के लिये नौकर रखे जाते हैं और इनाम दिये जाते हैं। नए नए खर्चीले महकमे बनाए जाते हैं। चिड़ीमार व्यांध का व्यवसाय प्राचीन काल से वर्जित और घृणित था, अब तो मोटी वेतन पाने वाले डाक्टर मच्छरमार, मेंडकमार, कुत्तेमार, चूहेमार, टिड्डी-मार, कीड़ेमार बन रहे हैं ऐसी अधम हिंसा को परोपकार और अपने को धार्मिक और परोपकारी कहते हैं।

शिकार का शौक़ भी बढ़ता जाता है, कहा जाता है कि यह वीरता का साधन है और हिंसक जीवों के हिंसन से अन्य जीवों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का उपकार होता है, बन्दूक से चिड़ियों को मार गिराने में भागते हुए हिरण खरगोश या लौमड़ी का घोड़े की सवारी पर पीछा करके मार डालने में, मचान पर बैठकर छिपे हुए शेर को खेद कर दूर से बंदूक मार देने में ऐसी ही शूरता है जैसी दंगई बच्चे तलाव में पत्थर फैंक कर मेंडकों को मार डालने, या चूहा पकड़ कर बिल्ली कुत्ते से फड़वाने में दिखलाते हैं।

कुछ लोगों ने एक यह झूठा ख्याल फैला दिया है कि शेर, भेड़िया, सांप, बिच्छू, भिड, खटमल, मच्छर, मक्खी, चींटी आदि मनुष्य जाति के जन्म संस्कार से बैरी हैं, और इनको मार डालना मनुष्य का धार्मिक कर्तव्य है। यह भी मनुष्य के पूर्व मिथ्या संस्कार का दुष्परिणाम और भ्रम है यदि मनुष्य अपने मनमें इन अभागे जीवों के प्रति दया भाव, समता भाव रक्खे, तो कदापि मनुष्य पर आक्रमण न करें। यह तो अपने बचाव के अर्थ, आत्म रक्षा के निमित्त मनुष्य को हानि पहुंचाते हैं, द्वेष भाव से नहीं। यदि मनुष्य साँप या शेर की तरफ समता भाव से देखता रहे, तो इसके दृष्टि बल से प्रभावित (magnetise or hypnotise) होकर वह इसके आधीन हो जावेंगे और इसके इशारों पर चलेंगे। इसी वैज्ञानिक सिद्धांत का प्रभाव है महात्मा साधुओं के शरीर पर सांप लिपट जाते और गुजर जाते हैं, और शेर भेड़िये उनके चरणों में आ बैठते हैं। और पशुओं में पारस्परिक वैरभाव भी मिट जाता है। सांप न्योला, शेर, बकरी पास पास बैठ जाते हैं। जैन साहित्य तो इस प्रकार के उदाहरणों से भरा हुआ ही है। ईसाई धर्म में एक महात्मा सेन्ट फ्रांसिस of Assisi ऐसे प्रसिद्ध हुए हैं जिनकी बाबत कहा जाता है कि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिंह जैसे क्रूर परिणामी जीव भी उनके प्रेमसे आकर्षित हो कर उनके चरणों को चूमते थे।

कुछ लोग ये कहते हैं कि यदि कोई पशु ऐसा घायल यां रोग ग्रसित हो कि उसके अच्छा होने की आशा न रहे, तो उसको गोली मार देनां मनुष्य का कर्तव्य है निर्दयता नहीं बल्कि दयांलुता है, उसको शारीरिक वेदनां से बचांया जांता है। यदि यह दयांलुतां है तो फिर अपने बांलकों, पुत्र, कलत्र, मित्रांदि को क्यों इस दयां-सें वंचित रखा जांतां है, शांरीरिक वेदनां से व्यथित होकर स्वास्थ्य प्राप्ति से निरांश होकर, बुद्धि भ्रष्ट मनुष्य अपघांत कर लेते हैं। किंतु उनको मार डांलने वांलां अपराधी, प्रांणदण्ड कां भागी होता है। सच्ची बात तो यह है कि जिस प्रकार मनुष्य के विषय में कहा जाता है कि जब तक श्वांस, तब तक आस, और रोग और वेदनां के निवारणार्थ भरसक प्रयत्न किया जांता है, उसी प्रकार पशु पक्षी आदि जीव मात्र के वास्ते भी प्रबन्ध होना चाहिये। यह बात तो समझ में आती है कि मनुष्य अपनी अयोग्यता, निर्धनता, अज्ञानता, निर्बलता, प्रमाद, बेपरवाही आदि से पशु पक्षी के कष्ट निवारणार्थ ऐसा प्रबन्ध नहीं करता, परन्तु रोग ग्रसित वा दुःखित जीव को मारडालने में धर्म कहना झूठ है, अपनी आत्मा को ठगना और अपने पाप को बढ़ाना है।

कुछ लोगों का यह भी कहना है कि हिंसा के बिना संसार की उन्नति नहीं हो सकती, हिंसा अनिवार्य है, और अहिंसा का सिद्धान्त मनुष्य को कायर बनाता है और सामाजिक पतन का कारण है, यह नितान्त भूल और भ्रम है और वह लोग अहिंसा के सिद्धान्त को समझे ही नहीं हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अहिंसा तो मनुष्य को वीर, साहसी, पराक्रमी, परीषह-विजयी बनाती है, और सामाजिक उन्नति और विकाश का कारण है। पूर्ण अहिंसा तो सर्व परिग्रह त्यागी दिगम्बर जैन साधु ही पाल सकते हैं, जिनको जैनागम में महाव्रती कहा गया है। गृहस्थी अपूर्णरूप, अणुव्रती अहिंसा का पालन करता है। जहाँ तक हो सकता है हिंसा से बचता है और जब हिंसा से नहीं बच सकता तो अपने भाव में कलुषता न रखता हुआ मजबूरी समझ कर हिंसा करता है, किन्तु उस को बुरा समझता है और हिंसा से उपार्जित दुष्कर्म का निराकरण करता रहता है। जैन पुराणों से विदित है कि श्रीरामचन्द्रजी और उन के सेनापति श्रीहनुमानजी ने अनेक युद्ध किये और दुष्टों के प्राण हरे। पाण्डव जैसे महापुरुष महाभारत जैसे भीषण संग्राम में तत्पर रहे, किन्तु यह सब राजभोग करके संसार त्याग करते हुए, इन सब ने साधु धर्म ग्रहण करके, महाव्रत पाले, दुद्धर तपश्चरण किया पूर्व संचित कर्मों का नाश किया, और अन्त में केवल ज्ञान की प्राप्ति कर तद्भव मोक्षगामी सिद्ध पुरुष हुए, जिन की पूजा, अर्चा और पुण्य स्मृति निर्वाण कांड में प्रति दिन की जाती है।

सम्राट् चन्द्रगुप्त, मैसूरनृपति रायमल्ल, उन के सेनापति क्षत्रिय कुलोत्पन्न समरधुरन्धर, वीर मार्तण्ड, रणराजसिंह, वैरी कुलदण्ड, समर परशुराम आदि पद विभूषित चामुंडराय, जैन साधु होकर सद्गति को प्राप्त हुए। महामेघ वाहन वंश के राजा खारवेल, जोधपुर राज्यस्थ ओसिया के परमार और सोलंकी राजपुत्र अन्हिलपुर पाटन के महाराज कुमारपाल आदि अनेक प्रतापी राजा अहिंसा धर्म को मानते और प्रजा को सुख सम्पत्ति पूर्ण रखते और समाज कीर्ति को दिगन्त व्यापी करते हुए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परम पूज्य पुरुष हुए हैं।

सारांश यह है कि जैनधर्मानुयायी सद्गृहस्थ, पृथ्वी सम्राट्, षटखंड विजयी चक्रवर्ती, महान योद्धा, शूरवीर, सेनापति, राजमन्त्री, न्यायाधीश, राजवैद्य, इंजिनियर, विज्ञान पारगामी, कारीगर, संगीताचार्य, व्यापारी हो सकता और बढई, लुहार दरज़ी, मज़दूर आदि का सब ही कुछ काम कर सकता है, और जैन गृहस्थ धर्म में दृढ़ रह कर दिन प्रतिदिन उन्नति करता हुआ एक ही जन्म में परमात्मपद तक पा लेता है। जिन धर्म प्रतिपालक के सामने कोई रोक नहीं है। वह उन्नति की पराकाष्ठा को पहुँच सकता है और अहिंसा धर्म उस को इस उन्नति मार्ग में पद पद पर सहकारी होता है।

जैन-अहिंसा के सिद्धान्त को समझने की आवश्यकता है, वह सरल सीधा है। प्रत्येक जीव प्राणधारी है। प्राण दस हैं। स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, पाँच तो इन्द्रिय प्राण और मन, बचन, काय-बल-रूप तीन बल प्राण और श्वासोश्वास और आयु मिल कर दस प्राण हुए। शरीरधारी प्राणी नाना प्रकार की योनियों में संसार भ्रमण करता है। जैसा जीव मनुष्य में है, वैसा ही जीव पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, वनस्पति में है। जिस अवस्था में वह स्थावर एकेन्द्रिय कहलाता है, हिर फिर नहीं सकता, वहाँ भी उस के कम से कम ४ प्राण होते हैं, स्पर्श इन्द्रिय, कायबल, श्वासोश्वास और आयु। लट, कीड़े जैसे जीव के रसना इन्द्रिय और बचन बल के बढ़ जाने से ६ प्राण होते हैं, और हैं, और वह द्वीन्द्रिय कहलाता है। चींटी जैसे जीव के घ्राण इन्द्रिय बढ़ जाने से ७ प्राण होते हैं। मक्खी जैसे प्राणी के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चक्षु की अधिकता से ८ प्राण हैं। ऐसे पंचेन्द्रिय जीव, जिन के मन नहीं हैं, ९ प्राणधारी हैं, सो विरले हैं। अन्य सब मन सहित पंचेन्द्रिय जीवों के दश प्राण हैं। यह १० द्रव्य प्राण हैं। जीव के स्वभावरूप, ज्ञानचेतना, स्वानुभवानन्द, अनन्तवीर्य गुण को भाव प्राण कहते हैं। पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय शास्त्र के ४३ वें श्लोक में अहिंसा का लक्षण इस प्रकार कहा है।

यत्खलु कषाय योगात्प्राणानां द्रव्य भाव रूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥४३॥

कषाय वश जीव के द्रव्य अथवा भाव प्राणों को हानि पहुँचाने को हिंसा कहते हैं—अर्थात् क्रोध मान माया लोभ वश,या बेपरवाही से विना विचारे, बिना देखे भाले, उतावली, घबराहट से किसी प्राणधारी के द्रव्य प्राण वा भाव प्राण को हानि पहुंचाने को हिंसा कहते हैं। जितने अधिक प्राणों को जितनी अधिक क्रूरता से जितनी अधिक हानि की जावेगी उतनी ही अधिक हिंसा का बंध होगा। हिंसा से निवृत्ति या बचे रहना अहिंसा है।

अहिंसाव्रत दो प्रकार का है, अहिंसा महाव्रत, और अहिंसा अणुव्रत, सर्वथा पूर्णतया अहिंसा महाव्रत का पालन साधु वा मुनिराज करते हैं। साधु पद से नीचे श्रावक पदवी में घट बढ़ अहिंसा धर्म का व्यवहार अपनी २ शक्ति के अनुसार हर कोई कर सकता है। श्रावक के अणुव्रत की अपेक्षा हिंसा विविध प्रकार की है। संकल्पी हिंसा का तो त्याग व्रतारम्भ होते ही हो जाता है। जान बूझ कर, सोच समझ कर, हिंसा करने के इरादे से, अणुव्रती श्रावक कदापि हिंसा नहीं करेगा, किन्तु संकल्पी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिंसा को छोड़ कर आरंभी वा विरोधी हिंसा का त्याग श्रावक के यथा शक्ति होता है।

यह विषय गहन है, प्रत्येक मनुष्य समय समय पर अपनी अवस्था और परिस्थिति के अनुसार अपनी शक्ति को न छिपाता हुआ अपने वास्ते निश्चय करेगा जैसा संसार के हर काम में निश्चय किया जाता है, और जहाँ सम्भव होगा अपने से अधिक विद्वान् वा अनुभवी श्रावक से परामर्श करके काम करेगा। दो चार दृष्टान्त यहाँ समझने के लिये लिखते हैं। एक जैन डाक्टर को घाव अच्छा करना है। घाव में कीड़े पड़ गए हैं। घाव अच्छा करने के लिये कीड़ों को निकालना वा हटाना आवश्यकीय है, ऐसा करने से और दवा लगाने से कीड़ों का प्राणघात अवश्य होगा। यह हिंसा संकल्पी हिंसा नहीं है। यहाँ डाक्टर का भाव कीड़ों के प्राणघात का नहीं है, किन्तु घाव के अच्छा करने का है और कीड़ों के प्राण बचाने का कोई उपाय भी नहीं है। यदि ऐसा सम्भव हो कि घाव भी अच्छा हो जाय और कीड़े भी न मरें, तो जैन डाक्टर अवश्य कीड़ों को बचा कर घाव अच्छा करेगा।

रोगी को दवा देने से भी विविध प्रकार के कीटाणु जो रोग का हेतु हैं, नाश को प्राप्त होते हैं, किन्तु यहां भी उनका प्राण व्यपरोपण संकल्पी हिंसा नहीं है। रात को घर में चोर आ गया, या किसी ने अपने वा अन्य पुरुष वा पशु पर आक्रमण किया, तो धन रक्षा, आत्म रक्षा, वा अन्य प्राणी की रक्षा के भाव से, चोर या आक्रमण करने वाले को जितनी हानि रक्षा भाव से पहुँचाई जायगी और उसमें द्वेष, निर्दयता, क्रूरता आदि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भाव न होगा, वह हिंसा संकल्पी हिंसा न होगी बल्कि विरोधी हिंसा होगी। भेड़िये या शेर से पशु वा मनुष्य को बचाने में यदि उस हिंसक की हिंसा भी हो जाय तो वह संकल्पी हिंसा न होगी बल्कि विरोधी हिंसा होगी। भेड़िये या शेर से पशु वा मनुष्य को बचाने में यदि उस हिंसक की हिंसा भी हो जाय तो वह संकल्पी हिंसा न होगी। मन्दिर या मकान बनवाने, भोजन बनाने, घर को साफ़ करने, खेती करने, आदि कार्यों में सावधानता पूर्वक काम करने से भी जो अनिवार्य हिंसा हो जाती है, वह संकल्पी हिंसा नहीं है। आरम्भी हिंसा है। बैरी के आक्रमण पर राजा को राज्य और प्रजा की रक्षा के अर्थ जो अनिवार्य हिंसा करनी पड़ती है, वह संकल्पी हिंसा नहीं है, विरोधी हिंसा श्रद्धानी श्रावक गृहस्थ के सब कार्य करता है, किन्तु उसके भाव सदा कोमल दयामय रहते हैं। अनिवार्य हिंसा होजाने पर उस को हर्ष नहीं बल्कि खेद ही होता है, और वह उस कर्म का प्रतिक्रमण, और प्रायश्चित करता है। खटमल, मच्छर से बचने के लिये श्रावक पलङ्ग को साफ़ रखेगा, चूल में छिद्र न रहने देगा. पाये के गिर्द कपड़ा मंढवा देगा जिसमें खटमल न पड़े। और यदि खटमल पड़ ही जावें तो पलङ्ग को खोल कर खटमल अलग करके फिर से बनवा लेगा किंतु ऐसा न करेगा कि पलङ्ग को धूप में डाल कर पीटे, और जो खटमल निकलते जावें, उनको कुचलता जावे, या उबलता हुआ गरम पानी डाल कर खटमलों को मार डाले, मच्छर से बचने के लिये श्रावक मुसहरी तान लेगा ओढ़ कर सोवेगा। मकान साफ़ रखेगा। यदि मच्छर शरीर पर बैठे तो उसको उड़ा देगा। किंतु मच्छरको हाथ पटक कर मारेगा नहीं, कुछ लेगा नहीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जहां किसी के भिड़ काट लेती है, तो सहसा उसको कुचल कर मार डालते हैं और यह कहते हैं कि भिड़ को मार डालने से उसका जहर नहीं चढ़ता यह घोर निकृष्ट संकल्पी हिंसा है। यदि श्रावक के भिड़ काट लेगी तो वह दुःख के शमन का उपाय करेगा। किंतु भिड़ के प्रतिद्वेष भाव नहीं करेगा। बिच्छू वा साँप को लोग देखते ही मार डालते हैं। कहते हैं कि यह मनुष्य के जन्म वैरी हैं इनको मारना मनुष्य का धर्म है। श्रावक के मनमें ऐसे हिंसा-भाव उत्पन्न ही नहीं होते। अंग्रेजों की देखा देखी हिन्दू भी अब मक्खी मार हो चले हैं। ज़हरीला चिपकीला काग़ज़ मेज़ पर रखते हैं जिसमें फंस कर मक्खियां तड़पर कर मरती हैं हाथ में चमड़े का पान लगा हुवा डँडा रखते हैं और उससे मक्खियां मारा करते हैं। ऐसे निन्दनीय कार्य श्रावक कदापि न करेगा। श्रावक यदि बनिये का रोजगार करेगा, तो नाज को पुराना न होने देगा, घुन न लगने देगा, जल्दी बेच देगा। बनिये लोभ वश भाव बढ़ने की प्रतीक्षा में नाज की कोठियां भरी रखते हैं और उनमें घुन लगता रहता है। भोजन की तय्यारी में श्रावक सावधानता से काम करेगा। जीव जन्तु को बचाकर झाड़ू देगा, पानी फेंकेगा। वस्तु धरे या उठावेगा। यदि कोई मक्खी मकड़ी के जाले में फँस जाय, तो श्रावक उसे निकाल देगा, जाला तोड़ने में और मकड़ी का भोजन छीन लेने में जो किंचित् हिंसा है, उससे कहीं अधिक पुण्य मक्खी के प्राण रक्षा में है। इत्यादि

सद्गृहस्थी श्रावक सँसार का प्रत्येक कार्य सावधानी से भली प्रकार, सफलता पूर्वक कर सकता है, और सामाजिक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उन्नति की पराकाष्ठा के साथ साथ आत्मोन्नति करता हुआ, व्रत ग्रहण करके चारित्र शुद्धि के क्रम वद्ध ग्यारह पद (जिनको प्रतिमा कहते हैं) प्राप्त करके, मुनि धर्म को अङ्गीकार करता है, पञ्च महाव्रतादि रूप १३ प्रकार चारित्र पालता हुआ, पूर्ण श्रुत-ज्ञान, अवधि ज्ञान, मनः पर्यय और केवल ज्ञान को प्राप्त कर सिद्ध पद पर जा विराजता है। वही पुरुषार्थ सिद्धि है। और उसी का उपाय इस परम उपयोगी ग्रन्थ में बतलाया गया है।

जैनं जयतु शासनम्

लाहौर

श्रुत पञ्चमी, २४५६ — अजित प्रसाद

—:)-(:—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रस्तावना

इस ग्रन्थ का नाम पुरुषार्थ सिद्धयुपाय है—वास्तव में यह "यथा नाम तथा गुणः" युक्ति के अनुसार पुरुष अर्थात् आत्मा के अर्थ प्रयोजन की सिद्धि के उपाय, तथा जैन सिद्धांत के गूढ़ रहस्यों का भण्डार है। मिथ्या श्रद्धान को नष्ट कर अपने आत्मा के स्वरूप में स्थिर होना पुरुषार्थ की सिद्धि का उपाय है—अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की एकतारूप मोक्ष मार्ग हो पुरुषार्थ सिद्धि का उपाय है जैसा इस ग्रन्थ के कर्त्ता आचार्य-वर श्रीमद् अमृतचन्द्र जी ने गाथा नं० ६ से १६ में प्रगट किया है।

वैसे तो इस ग्रन्थ में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र का स्वरूप एक निराले ही ढङ्ग से वर्णन किया गया है। परन्तु पूज्यवर आचार्य ने हिंसा अनृत स्तेय अब्रह्म परिग्रह पाँचों ही पापों को निहायत खूबीके साथ हिंसारूप सिद्ध किया है। वास्तव में अहिंसा धर्म के सम्बन्ध में यह अपनी कोटी का एक अनूठा ही ग्रन्थ है।

श्रीमद् अमृतचन्द्र जी विक्रम की दशमी शताब्दी में हुये हैं आप अपने समय के एक उच्च-कोटि के विद्वान् थे। पट्टावलियों से जान पड़ता है कि जिस नन्दिसङ्घ के आचार्यों में प्रातःस्मरणीय परम पूज्य आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी हुए हैं आपने भी उसी संघ को बहुत समय तक सुशोभित किया। श्रीकुन्दकुन्द स्वामी के प्रसिद्ध ग्रन्थ पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, पर आपकी परमोत्तम टीकायें मिलती हैं। इससे आपकी विद्वत्ता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आपका संघ वात्सल्य, तथा श्रद्धाभावका भी भली भांति परिचय मिल जाता है। आपकी सब टीकायें अत्यन्त बोधगम्य, भाव व्यञ्जक और प्रमाणिक गिनी जाती हैं।

पुरुषार्थ सिद्धियुपाय ग्रन्थ की भाषा टीकायें कई हैं। परन्तु मैंने उनमें से स्वर्गीय पं० टोडरमल जी तथा दौलतराम जी कृत और पं० नाथूराम जी प्रेमी कृत टीकाओं को ही पढ़ा है। पं० टोडरमल जी की टीका को मैंने रोहतक जैन मन्दिर सराय मोहल्ला की शास्त्र सभा में नवम्बर सन् १६२६ से फवरी सन १६३० तक पढ़कर सुनाया। उस समय इस ग्रन्थ को पढ़ कर जैन सिद्धांत के रहस्य का बड़ा भारी प्रभाव मेरे तथा सभासदों के चित्त पर पड़ा। जिस दिन सभा में यह ग्रन्थ समाप्त हुआ, तो श्रोतागण को नियम प्रतिज्ञा दिलाते हुए मैंने स्वयं यह नियम किया, कि मैं इस ग्रन्थ की टीका को आज कल की सरल और साधारण भाषा में रूपान्तर करने का प्रयत्न करूंगा। पश्चात् अपने धर्म प्रेमी और अनुभवी मित्र बा० लालचन्दजी बी. ए. एल एल. बी. ऐडवोकेट तथा बा० नानकचन्द जी बी. ए. एल एल. बी ऐडवोकेट से इसके सम्बन्ध में बातें हुई तो उनकी भी यही सम्मति ठहरी कि मूल श्लोक देकर उसके नीचे अन्वयार्थ दिये बिना भावार्थ ही सरल भाषा में लिख दिया जावे तो बड़ा उपयोगी होगा। इससे वे अंग्रेजी पढ़े लिखे विद्वान् तथा स्कूलों और कालिजों में पढ़ाये जाने वाले छात्रगण, तथा वे भाई जो संस्कृत नहीं जानते और जिनको हिन्दी भाषा का भी साधारण ज्ञान है लाभ उठा सकेंगे। इसी आशय को लेकर इस ग्रन्थ को यह रूप देने का प्रयत्न मैंने किया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस ग्रन्थ में मुख्यतः गृहस्थाचार का ही वर्णन किया गया है और जो थोड़ा बहुत यतियों के आचार का वर्णन किया है वह भी गृहस्थाचार के ही प्रयोजन से किया गया है ताकि गृहस्थ भी अपनी योग्यता व शक्ति का विचार करके उसको ग्रहण करें और अपना कर्तव्य जान उसका एक देश पालन करें। यद्यपि मूल ग्रन्थ में श्रावक की एकादश प्रतिमाओं का वर्णन नहीं है तथापि इसमें पाठकों के सुभीते के लिये ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप भी संक्षिप्त रीति से बतला दिया गया है। दश लक्षण धर्म तथा बाईस परिषहों का वर्णन करते हुये स्वर्गीय कविवर भूधरदासजी कृत पार्श्व पुराण में से और बारह भावनाओं का स्वरूप लिखते हुये स्वर्गीय पं० दौलतराम जी कृत छहढाला में से छन्द भी उद्धृत कर दिये हैं। जिससे उनका वर्णन जरा रोचक प्रतीत हो।

यद्यपि मूलग्रन्थ में सम्पूर्ण व्रतों का वर्णन कर चुकने के पीछे सब व्रतों के अतिचार बताये हैं पर हमने पाठकों की सुगमता के लिये प्रत्येक व्रत के अतीचार की गाथा लक्षण के साथ ही दे दी है और गाथा का नम्बर वही रक्खा है जो मूल ग्रन्थ में है।

इस टीका को लिखने के बाद मैंने इसे अपने परम हितैषी श्री जैनधर्म दिवाकर जैनधर्म भूषण ब्रह्मचारी शीतलप्रशाद जी के पास संशोधन के लिये भेजा—उन्होंने कृपाकर अपना बहुमूल्य समय देकर इसे आद्योपांत देखकर हमें उपकृत किया इसके लिये हम उनके अत्यन्त आभारी हैं।

मैं विद्वान् नहीं हूं। मैंने इस ग्रंथ के सम्बंध में कोई भी बात अपनी ओर से नहीं लिखी है, केवल भक्तिभाव और जिनवाणी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रचार से ही प्रेरित होकर इस ग्रंथ को इस रूप में लिखा है, यदि कोई त्रुटि व अशुद्धि हो तो विशेषज्ञ मुझे बुद्धिहीन तथा अल्पज्ञ जान क्षमा करें और पाठ को संशोधित कर पढ़ें।

मैं अपने मित्र बा० लालचन्दजी तथा बाबू नानकचंदजी रोहतक का भी आभारी हूं जिनकी सत्सङ्गति तथा प्रेरणा से मुझे इसके लिखने का अवसर प्राप्त हुआ। श्रीमान् पं० नाथूराम जी प्रेमी की टीका को इस ग्रंथ के लिखने में मैंने खूब ही स्वतंत्रता पूर्वक काम में लिया है इसके लिये हम उनके चिरऋणी रहेंगे।

अन्त में अपने परममित्र श्रीमान् पं० अजितप्रसाद जी एम. ए. एल एल. बी. ऐडवोकेट, (जिनकी समाज सेवा तथा धर्म प्रेम से समाज भली भांति परिचित है) को धन्यवाद दिये विना नहीं रह सकता हूँ। कि जिन्होंने अपने बहुमूल्य समय की परवाह न कर इस ग्रंथ को छपवाने का पूरा भार अपने ऊपर लिया तथा शिक्षाप्रद प्राक्कथन लिखकर ग्रंथ के महत्व को बढ़ाया।

उन उदार जिनवाणी भक्तमहानुभावों का भी अति आभारी हूं कि जिन्होंने उदारता पूर्वक अपना द्रव्य देकर इस ग्रंथ के प्रकाशन में हाथ बटाया है—उनके शुभ नामों की सूची (प्रथम संस्करण) में लगादी है।

रोहतक **उग्रसेन जैन (गोहाना निवासी)**

श्रुत पञ्चमी २४५६ एम. ए. एल एल. बी. वकील, रोहतक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वितीय संस्करण

पहले संस्करण की पुस्तकें खतम हो जाने पर यह दूसरा संस्करण निकाला गया है। इसमें ध्यान का विषय विशेषता से दिया है—षोडश कारण भावना भी बढ़ादी गई हैं। आशा है पाठकगण इससे लाभ उठावेंगे। इस संस्करण के प्रकाशार्थ श्रीमती जैन मतिदेवीजी धर्मपत्नी ला० भिच्छालाल जी जैन रईस रोहतक ने १००) रु० सुगंधदशमी व्रत के उद्यापन के उपलक्ष्य में प्रदान किये हैं, इसके लिये श्रीमती जी को धन्यवाद दिया जाता है।

रोहतक — उग्रसेन जैन

मार्गशिरवदि १० — एम. ए. एल एल. बी

वीरनिर्वाण सं० २४६७

रविवार २४ नवम्बर १९४०

तृतीय संस्करण

पहले दोनों संस्करणों की पुस्तकें खतम हो चुकी थीं दिन प्रतिदिन मांग आती रहती थी इसीलिये यह तृतीय संस्करण निकाला जाता है, जो २ अशुद्धियां रह गईं थीं उनको ठीक कर दिया गया है। आशा है कि पाठकगण इससे पूर्ण लाभ उठावेंगे।

रोहतक — उग्रसेन जैन

१९४१ कार्तिक शु० २ — एम. ए. एल एल. बी.

रविवार २६ अक्टूबर वीर नि० सं० २४७६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषयानुक्रमणिका

संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
१	मंगलाचरण ग्रन्थ की उत्थानिका	१
२	"पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय" का अर्थ	१३
३	उपदेश करने की रीति	२४
४	श्रावक धर्म व्याख्यान	२५
५	सम्यक् दर्शन का लक्षण	२५
६	सम्यक् के अष्ट अङ्ग	३५
७	सम्यक् दर्शन के ५ अतिचार	४५
८	सम्यक् ज्ञान	४६
९	सम्यक् चारित्र	५९
१०	चारित्र के भेद	६०
११	अहिंसाव्रत	६२
१२	अहिंसाणुव्रत के ५ अतिचार	८६
१३	सत्यव्रत	८७
१४	सत्याणुव्रत के अतिचार	९०
१५	अचौर्यव्रत	९१
१६	अचौर्याणुव्रत के अतिचार	९४
१७	ब्रह्मचर्यव्रत	९५
१८	ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार	९६
१९	परिग्रह परिमाणव्रत	९७
२०	परिग्रह परिमाण अणुव्रत के अतिचार	१०५
२१	रात्रि भोजन त्याग	१०५
२२	सप्त शीलव्रत	१०८
२३	दिग्व्रत	१०८
२४	दिग्व्रत के अतिचार	१०९
२५	देशव्रत	११०
२६	देशव्रत के अतिचार	११०
२७	अनर्थदण्डव्रत	१११
२८	अनर्थदण्डव्रत के २१ अतिचार	११४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संख्या	विषय	पृष्ठ	संख्या	विषय	पृष्ठ
२६	सामायिक शिक्षाव्रत	११५	४२	श्रावक की ११ प्रतिमायें	१३७
३०	सामायिकव्रत के अतिचार	११७	३३	सकल चारित्र	१४३
३१	प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत	१२०	४४	बारह प्रकार का तप (विशेषत: ध्यान)	१४३
३२	प्रोषधोपवास के अतिचार	१२१	४५	षट आवश्यक के नाम	१६२
३३	भोगोपभोग परिमाण शिक्षाव्रत	१२१	४६	गुप्तित्रय	१६२
३४	भोगोपभोग परिमाण-व्रत के अतिचार	१२६	४७	पंच समिति	१६३
३५	अतिथि संविभाग शिक्षाव्रत	१२६	४८	दश लक्षण धर्म	१६४
३६	दाता के सप्त गुण	१२८	४९	बारह भावना	१७२
३७	दान के पात्र	१२९	५०	बाईस परीषहजय	१७९
३८	संविभाग व्रत के अतिचार	१३०	५१	षोडशकारण भावना	१९५
३९	सल्लेखना	१३१	५२	रत्नत्रय धर्म	२०९
४०	सल्लेखना की विधि	१३२	५३	रत्नत्रय बंध का कारण नहीं है	२११
४१	सल्लेखना के अतिचार	१३७	५४	अष्ट कर्म और उन के बंध का वर्णन	२१४
			५५	स्याद्वाद नीति का स्वरूप	२२४
			५६	ग्रन्थकर्ता की लघुता	२२४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शुध्द्याशुद्धि पत्र (Errata)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०	४	'ब्राह्मणने स्वस्ति''	ब्राह्मण ने "स्वस्ति"
१०	१८	व्यवहार	व्यवहारमें
२५	१६	अङ्गकार	अङ्गीकार
३१	६	क्षेत्रवगाह	क्षेत्रावगाह
३७	१४	निन्द्यय	निन्द्य
४१	१०	पश्न	प्रश्न
४२	१७	वात्सला	वात्सल्य
४४	१३	घूर्त	धूर्त
५०		स्मृति | केवलज्ञान	सर्वदेश | केवलज्ञान
५३	१६	बैठ	वैठी
५४	५	ममय	समय
५६	१८	तिनने	तिनके
५८	२	उपादन	उपादान
,,	२१	निर्मज	निर्मल
५९	६	समयक्	सम्यक्
,,	११	चरित्र	चारित्र
६०	१६	काषायादि	कषायादि
६३	७	भवर	भवत्य
,,	६	प्रणों	प्राणों
६५	६	आधिन	आधीन
६९	२२	कहते	करते
७०	१	सिसा	हिंसा
७४	११	डालियों	डलियों
७५	६	ापशितं	पिशितं
७६	१६	पच	पंच
३८	४	हिंसा	हिंसाका
७८	१८	तिर्यंर्थ	तिर्यञ्च
७९	७	पाचन	पालन
८१	१७	सत्व	सत्त्व
,,	१८	सिसनं	हिंसनं
८८	१६	संयुक्त	संयुत
९१	६	माँनने	मांगने
९५	८	ववार	विचार
९६	७	परिणय	परिणयन
,,	१६	बीना	विना
१०२	१७	गहण	ग्रहण
,,	१८	परिगह	परिग्रह
१०७	३	ने	में
१०८	११	उत्तर	उत्तर,दक्षिण
१०९	१	स्यततो	यरततो
,,	२०	विशेषण	विशेषेण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१११	१७	पपोपदेश	पापोपदेश
११२	१८	मगादेने	मांगादेना
११५	१६	ईर्षा	ईर्या
११७	८	ऽश्वय	ऽवश्य
१२२	१०	प्रजिघां	प्रजिघ्रा
१२३	१०	व्रतस्पति	वनस्पति
,,	१४	स्कंध	स्कंध कहते
१२४	४	किञ्चत्	किञ्चित्
,,	१४	अयाग्य	अयोग्य
१२८	२२	पनार्थ	पदार्थ
१२६	२१	प्राति	प्राप्ति
१३२	५	परिमाण	परिणाम
,,	१२	माणान्ते	मरणान्ते
१३५	१५	यचना	याचना
,,	२४	प्रतिकरण	प्रतिक्रमण
१३६	२०	सिमित्त	निमित्त
१३७	१६	सम्कक्	सम्यक्
१३८	७	लगता	लगाता
,,	७	का	की
१३८	१५	सम्बन्ध,	सम्बन्धी
१३६	१	पूवक	पूर्वक
,,	१८	अर्धात्	अर्थात्
१४०	१८	प्रतिता	प्रतिमा
१४२	१	चरित्र	चारित्र
१४३	७	भद	भेद
१४४	८	पालक	पालन
१४५	१३	गुणों	गुणोंकी
,,	१४	पूचक	पूर्वक
१४६	१४	शुद्धात्माओं	शुद्धात्मा
१४७	१६	हा	हो
,,	२०	वियग	वियोग
,,	२०	हाजाने	होजाने
,,	२३	शाक	शोक
,,	२३	मूछा	मूर्छा
१४८	२२	की	कि
,,	२२	अवश्था	अवस्था
१४६	२३	मुर्छा	मूर्छा
१५०	१	कम	कर्म
,,	२३	कायों	कार्यों
१५१	१२	साचते	सोचते
,,	२०	वांय	बायें
१५३	७	पडना	पढ़ना
१५६	५	धाराणाओं	धारणाओं
,,	२२	विचार	विचारा
१५६	६	नौ	नो
१६०	१७	शक्ल	शुक्ल
,,	२५	उच्चार	उच्चारण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६१	१७	पूङ्गव	पुङ्गव
,,	१७	यदुयक्त	यदुक्त
१६२	१२	काय	काल
१६३	८	निक्षेपो	निक्षेपौ
१६४	१६	शोच	शौच
१६५	६	कहने	कहते हैं
,,	५	क्राध	क्रोध
,,	७	क्राध	क्रोध
१६६	६	प्रति	प्रीति
,,	१५	लाक	लोक
१६७	३	अर्जव	आर्जव
१६८	२	शोच	शौच
,,	२२	रागभाव	रागभाव के अभाव
१६६	४	प्राप्ता	प्राप्ति
,,	२२	आहर	आहार
१७०	१०	जीवग	जीवों
,,	१७	में	मैं
१७१	२५	भेद	वेद
१७२	११	अध्रु व	अध्रु व
१७५	२३	पंक्ति के शुरू में माया लोभ के बाद पढ़िये अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध मान माया लोभ	
१७६	१	नौकर्म	नोकर्म
१७७	१	कम	कर्म
१७८	३	जवी	जीव
१८०	८	निजरा	निर्जरा
१८२	५	स्वधीन	स्वाधीन
१८६	१६	भोय	भोग
१८७	२३	समज	समझ
१८८	४	बचन	बचनवाण
१६०	४	कध	कफ
,,	६	हारुण	दारुण
,,	११	रू	में
,,	११	जते हैं	जाते हैं
,,	२०	योगन्द्र	योगीन्द्र
,,	२२	नपीं	नहीं
,,	२३	निकलते	निकालते
१६३	१	जिन	निज
२१०	२१	शद्ध	शुद्ध
२१८	५	आय	आयु
२१६	८	सामाधान	समाधान
,,	२३	अकार्ता	अकर्ता
२२०	२१	ज्ञाग	ज्ञान
,,	२१	भय	मय
२२१	२	शिवगम	शिवमग
,,	४	करक	करम
२२३	३	प्राप्यि	प्राप्ति
२२४	१४	खींखती	खींचती

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ॐ

श्री अमृत चन्द्र आचार्य कृत संस्कृत

"पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय" ग्रन्थ का हिन्दी भाषानुवाद

अर्थात्

श्रीयुत उग्रसेन, एम. ए., वकील रोहतक द्वारा सम्पादित

भाषा-पुरुषार्थ सिद्ध्युपायः ।

—):ॐ०ॐ:(—

तज्जयति परं ज्योतिः समं
समस्तैरनन्त पर्यायैः ।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति
पदार्थमालिका यत्र ॥ १ ॥

भावार्थ—वह शुद्ध चेतनामई परम ज्योति जयवन्ती होवे, जिसमें जगत् के जीवादिक समस्त ही पदार्थ अपने अपने आकार, गुण तथा अतीत अनागत वर्तमान सम्बन्धी पर्यायों सहित, ठीक उसी प्रकार प्रतिबिम्बित होते हैं, जैसे कि शीशे में घटपट आदिक पदार्थ ।

शीशे के इस दृष्टान्त में विशेषता यह है कि शीशे में ऐसी अभिलाषा नहीं है कि मैं इन पदार्थों को प्रतिबिम्बित करूँ, या

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैसे लोहे की सूई चुम्बक पत्थर के समीप स्वयं ही जाती है वैसे ही शीशा अपने स्वरूप को छोड़कर पदार्थों को प्रतिबिम्बित करने के लिये उनके पास नहीं जाता है और न ही वे पदार्थ अपने निज स्वरूप को छोड़ उस शीशे के अन्दर प्रवेश कर जाते हैं। या जैसे कोई पुरुष किसी दूसरे पुरुष को कहे कि हमारा अमुक कार्य करो ही करो, तैसे वे पदार्थ अपने प्रतिबिम्बित होने के वास्ते शीशे से कोई प्रार्थना भी नहीं करते हैं। सहज स्वभाव से ही ऐसा सम्बन्ध है कि जैसा जिस पदार्थ का आकार होता है, वह उस रूप होकर ही शीशे में प्रतिबिम्बित होता है। उसके प्रतिबिम्बित होने से शीशा यह नहीं मानता कि यह पदार्थ मेरे लिये भला है, उपकारी है, राग करने योग्य है, या यह पदार्थ मेरे लिये बुरा है, अपकारी है, द्वेष करने योग्य है, शीशे के लिये तो सबही पदार्थ समान हैं। ठीक इसी प्रकार जैसे शीशे में कितने ही घटपट आदिक पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं, ज्ञानरूपी शीशे में समस्त जीवादिक पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं। ऐसा कोई द्रव्य या पर्याय नहीं जो ज्ञान में न आया हो। ऐसी शुद्ध चैतन्य परम ज्योति की सर्वोत्कृष्ट महिमा स्तुति करने योग्य है। यहां कोई प्रश्न करे कि गुण का स्तवन किया, किसी खास गुणी का नाम लेकर स्तवन क्यों नहीं किया ? चाहिए तो यह कि पहले गुणी का नाम लेवें और फिर उसके गुण वर्णन करें। तिसका उत्तर:—आचार्य ने प्रथम ही गुण का स्तवन करके अपनी परीक्षा प्रधानता प्रकट की है। भव्य पुरुष दो प्रकार के होते हैं, एक तो आज्ञाप्रधानी और दूसरे परीक्षा प्रधानी। जो जीव कुलपरम्परा से चले आए मार्ग के अनुसार देव, गुरु उपदेश को ज्यों का त्यों प्रमाण कर, विनय आदि क्रिया रूप प्रवर्त्तते हैं वे आज्ञा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रधानी कहलाते हैं। जो पहले अपने सम्यक् ज्ञान द्वारा स्तुति करने योग्य गुण का निश्चय कर लेते हैं और फिर जिसके अन्दर वह गुण पाया जावे उसके प्रति विनय आदि क्रिया रूप प्रवर्तते हैं वे परीक्षा प्रधानी कहलाते हैं। कोई पद अथवा कोई खास भेष या स्थान पूज्य नहीं होता है। पूज्य तो गुण ही हैं। इस लिये आचार्य ने यहां यह निश्चय किया कि शुद्ध चेतना प्रकाश रूप गुण ही पहिले स्तुति करने योग्य है। जिसके अन्दर ऐसा गुण पाया जावे वह फिर सहज ही स्तुति करने योग्य हो जाता है। गुण द्रव्य के ही आधीन होता है, द्रव्य गुणों से जुदा कोई चीज नहीं है। निश्चय पूर्वक विचार करने पर यह वात सिद्ध होती है कि यह परम शुद्ध चेतना प्रकाश रूप पूर्ण गुण केवल अरहन्त तथा सिद्ध परमेष्ठी में ही पाया जाता है। इस प्रकार श्रीअमृतचन्द्र आचार्य जी ने इसशुद्ध चेतना गुण का स्तवन करके अपने इष्टदेव का ही स्तवन किया है।

आगे आचार्य एकान्तपक्षरहित स्याद्वाद (अनेकान्त) को नमस्कार करते हैं—कोई तर्क करे कि जिनागम को नमस्कार करना चाहिए था स्याद्वाद को क्यों नमस्कार किया ? तो:—

परमागमस्य वीजं निषिद्ध
जात्यन्ध सिन्धुरविधानम्।
सकल नय विलसितानां
विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥२॥ ✓

उत्तर में आचार्यवर कहते हैं कि जिस स्याद्वाद को हमने नमस्कार किया है वह परम उत्कृष्ट जैन सिद्धान्त का बीज या जीव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मूल है—जैसे शरीर जीव सहित ही कार्यकारी होता है, जीव विना मृतक शरीर किसी भी काम का नहीं होता। जैन सिद्धान्त वचनात्मक है और वचन क्रमवर्ती है। अन्य मतावलम्बी जो भी कथन करते हैं, एक नय की प्रधानता को लिए हुवे ही करते हैं, परन्तु जैन सिद्धान्त सर्वत्र स्याद्वाद से व्यापक है, अर्थात् एकान्त अर्थ से रहित अनेकान्त रूप है। जहाँ एक नय की प्रधानता होती है, वहाँ दूसरी नय की अपेक्षा होती है। इसी कारण जैन सिद्धान्त जीव के लिए कार्यकारी है और अन्यमत एकान्त पक्ष के कारण कार्यकारी नहीं। यदि कोई जैनागम के उपदेश को भी अपनी अज्ञानतावश अनेकान्त रहित श्रद्धान करता है तो वह विपरीत फल को ही प्राप्त करता है। स्याद्वाद (अनेकान्त) एकान्त श्रद्धान का निषेध कर सर्वांग वस्तु के वास्तविक स्वरूप को निश्चय कराने वाला है। दृष्टान्त—जैसे बहुत से जन्मान्ध पुरुष मिले, उन्होंने एक हस्ती के विविध अङ्गों को अपनी-अपनी स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा निश्चय किया, नेत्र विना सर्वांग हस्ती को न जाना; हस्ती के स्वरूप को अपने २ निश्चय के अनुसार अनेक प्रकार बताकर आपस में वाद विवाद करने लगे। तब एक नेत्रवान पुरुष वहाँ आया उसने यथावत् हस्ती के स्वरूप का निर्णय कर उनकी भिन्न २ कल्पनाओं को दूर किया। ठीक इसी प्रकार एकान्तवादी एक ही वस्तु के अनेक अङ्गों को अपनी २ बुद्धि द्वारा जुदे जुदे अन्य-अन्य रीति से निश्चय कर बैठते हैं, सम्यक् ज्ञान बिना सर्वांग वस्तु को नहीं जानते हैं। तब एक सम्यक्-ज्ञानी स्याद्वाद विद्या के द्वारा यथावत वस्तु का स्वरूप निर्णय कर उनकी भिन्न २ कल्पनाओं को दूर करता है। सांख्यमती वस्तु को कूटस्थ नित्य ही मानते हैं, बौद्ध-मती क्षणिक मानते हैं। स्याद्वादी कहते हैं कि यदि वस्तु सर्वथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नित्य ही है, तो अनेक पर्य्यायों की पलटन उसमें क्यों और कैसे होती है ? यदि वस्तु को सर्वथा क्षणिक ही मान लिया जावे तो 'यह वस्तु वही है जो पहिले देखी थी' ऐसा प्रत्यभिज्ञान फिर कैसे हो ? इस प्रकार स्याद्वाद सिद्धान्त सर्वथा एकान्तवाद का निषेध कर निर्णय करता है कि कथंचित्, द्रव्य की अपेक्षा वस्तु क्षणिक भी है। स्याद्वाद एकान्त श्रद्धान का निषेध कर सर्वांग वस्तु का निर्णय करता है। स्याद्वाद समस्त नयों के द्वारा प्रकाशित जो वस्तु का स्वभाव उसको यथार्थ वताने वाला है और उनके परस्पर विरोध को दूर करने वाला है।

नय विवक्षा से वस्तु में अस्ति, नास्ति, एक, अनेक, भेद, अभेद, नित्य, अनित्य आदिक अनेक स्वभाव पाए जाते हैं। जिनमें परस्पर विरोध मालूम पड़ता है। जैसे अस्ति नास्ति में प्रतिपक्षीपना पाया जाता है, परन्तु जब इन्हीं स्वभावों को स्याद्वाद द्वारा बतलाया जाता है, तो सब विरोध दूर हो जाता है, क्योंकि एक ही पदार्थ कथंचित्, स्वचतुष्टय (अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव) की अपेक्षा अस्तिरूप है; कथंचित्, परचतुष्टय की अपेक्षा नास्तिरूप है। समुदाय की अपेक्षा एक रूप है; कथंचित् गुण पर्याय की अपेक्षा अनेक रूप है। कथंचित् संज्ञा, संख्या, लक्षण की अपेक्षा गुण पर्य्यायादि अनेक भेद रूप है। कथंचित् सत्व की अपेक्षा अभेद रूप है। कथंचित् द्रव्य की अपेक्षा नित्य, कथंचित् पर्य्याय की अपेक्षा अनित्य हैं। इस प्रकार स्याद्वाद सर्व विरोध को दूर करने वाला है।

नोट—(स्याद्वाद=स्यात् कथंचित नय अपेक्षा द्वारा+वाद=वस्तु स्वरूप का कथन करना)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लोकत्रयैकनेत्रं निरूप्य परमागमं प्रयत्नेन।
अस्माभिरुपोद्ध्रियते विदुषांपुरुषार्थसिद्ध्युपायोयं ॥३॥

अपने इष्ट देव तथा परमागम को स्तवन करने के पीछे आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं, कि अब हम तीन लोक के पदार्थों को प्रकाशित करने वाले अद्वितीय नेत्र परमागम को, अनेक उपायों द्वारा सावधानता पूर्वक परंपराय जैन-सिद्धान्त के अनुसार निरूपण कर के, ज्ञानी जनों के हित के अर्थ, पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय (चैतन्य पुरुष के प्रयोजन सिद्ध होने का उपाय) नामा ग्रन्थ कहेंगे। तात्पर्य यह है कि इस ग्रन्थ में केवली, श्रुतकेवली तथा आचार्यों की परंपरा को विचार कर ही उपदेश किया जावेगा, अपनी मन घडंत रचना कोई भी नहीं हैं।

मुख्योपचार विवरण निरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः।
व्यवहार निश्चयज्ञाः प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम् ॥४॥

प्रथम ही वक्ता तथा उपदेश दाता का लक्षण कहते हैं। इस लोक में धर्म तीर्थ के प्रवर्तावनेवाले आचार्य होते हैं। उपदेश दाता आचार्य में अनेक गुणों का होना जरूरी है, परन्तु उन सब में मुख्य व्यवहार और निश्चय नय का ज्ञान है; क्योंकि जीवों में जो अनादि काल से अज्ञान भाव चला आता है, वह मुख्य कथन और उपचार कथन के ज्ञान से ही दूर होता है। मुख्य कथन तो निश्चयनय के आधीन है—

निश्चयनय—'स्वाश्रितोनिश्चयः'—जो अपने ही आश्रय होता है उसे निश्चयनय कहते हैं। जिस द्रव्य के अस्तित्व में जो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भाव पाये जावें उस द्रव्य में उनका ही स्थापन कर, परमाणु मात्र भी अन्य कल्पना नहीं करने का नाम स्वाश्रित है। इस निश्चयनय के कथन को ही मुख्य कथन कहते हैं। इसके ज्ञान से, शरीरादिक परद्रव्यों के साथ अनादि से एकत्व श्रद्धानरूप अज्ञान का अभाव होता है, भेदविज्ञान की प्राप्ति होती है, सर्व परद्रव्यों से भिन्न अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप का अनुभव होता है। इस अनुभव अवस्था में ही जीव परमानन्द दशा में प्राप्त होकर केवल ज्ञान दशा की प्राप्ति करता है। जो अज्ञानी जीव इसके विना समझे धर्म में लवलीन होते हैं वे शरीराश्रित क्रियाकाण्ड को उपादेय (ग्रहण करने योग्य), जानकर संसार के कारण अशुद्धोपयोग को ही मुक्ति का कारण मान लेते हैं और निज शुद्ध स्वरूप से भ्रष्ट होकर संसार में भ्रमण करते हैं। इसलिए मुख्य कथन का जानना निश्चयनय के आधीन है, इसका ज्ञान उपदेश दाता के लिये परमावश्यक है क्योंकि जो आप ही अनभिज्ञ (नावाक़िफ़) होता है वह अपने शिष्यों को किसी प्रकार भी नहीं समझा सकता है।

व्यवहारनय—'पराश्रितो व्यवहारः'—अर्थात् जो परद्रव्य के आश्रय होवे, उसे व्यवहारनय कहते हैं।

पराश्रित—कुछ थोड़ा सा भी कारण पाकर किसी एक द्रव्य का भाव किसी दूसरे द्रव्य में समावेश करने का नाम पराश्रित है। व्यवहारनयका कथन ही उपचार कथन कहलाता है, इसके ज्ञान से जीव शरीरादिक सम्बन्धरूप संसार दशा को जान, संसार के कारण आस्रव तथा बन्ध के स्वरूप को पहिचान कर, संसार से मुक्त होने के उपाय संवर तथा निर्जरा में लगता है। जो अज्ञानी जीव इसको जाने बिना केवल शुद्धोपयोगी होना चाहते हैं वे पहले

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ही व्यवहार साधन को छोड़ पाप के आचरण में लीन हो, नरकादिक के अनेक दुःख संकटों में पड़ जाते हैं। इस प्रकार उपदेशदाता के लिये उपचार कथन का जानना भी परमावश्यक है। सारांश यह है कि निश्चय तथा व्यहार दोनों नयों के जानने वाले आचार्य ही धर्म तीर्थ के प्रवर्तक हुआ करते हैं, और नहीं।

निश्चयमिहभूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः ॥५॥

आचार्य इन दोनों नयों में से निश्चय नय को **भूतार्थ** और व्यवहार नय को **अभूतार्थ** कहते हैं।

भूतार्थ—('भूत' जो पदार्थ में पाये जावें + अर्थ = भाव) भूतार्थ नाम सत्यार्थ का है, जो भाव किसी पदार्थ में पाये जावें उनको ज्यों का त्यों प्रकाश करने और अन्य किसी प्रकार की भी कल्पना न करने को भूतार्थ कहते हैं। सत्यवादी कल्पना से कुछ नहीं कहा करते; वह सत्य ही कहा करते हैं। जैसे—यद्यपि जीव और पुद्गल का अनादि काल से एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध चला आ रहा है और दोनों मिले हुए दीखते हैं, तथापि निश्चय नय आत्म द्रव्य को शरीरादिक पर द्रव्यों से भिन्न ही प्रकाश करता है और यही भिन्नता मुक्त दशा में प्रकट होती है, इस वास्ते निश्चयनय ही भूतार्थ अथवा सत्यार्थ है। **अभूतार्थ**—नाम असत्यार्थ का है। जो भाव पदार्थ में न पाए जावें उन्हें अनेक प्रकार की कल्पना करके प्रकाश करने को अभूतार्थ कहते हैं; जैसे कोई असत्यवादी जरा से भी कारण का बहाना पाकर अनेक कल्पना करके असदृश को सदृश कर दिखाता है; जैसे यद्यपि जीव और पुद्गल का सत्व

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(मौजूदगी) भिन्न २ है, स्वभाव भिन्न है, प्रदेश भिन्न है, तथापि एक क्षेत्रावगाह का बहाना पाकर आत्मद्रव्य को शरीरादिक परद्रव्यों से एकत्वरूप कहता है, इस वास्ते व्यवहारनय अभूतार्थ असत्यार्थ है। आत्मा का परिणाम निश्चयनय के श्रद्धान से विमुख होकर शरीरादिक परद्रव्यों से एकत्वरूप प्रवर्तन करता है, इसको ही संसार कहते हैं, इससे जुदा संसार कोई पदार्थ नहीं है। इस लिए जो जीव संसार से मुक्त होना चाहते हैं उनको शुद्धनय के सन्मुख रहना योग्य है। जैसे कोई पुरुष ऐसे जल को पीता है जिसका निर्मल स्वभाव कीचड के संयोग से आच्छादित (ढका) हो रहा है, अर्थात् गदले जल को पीता है, और कोई दूसरा पुरुष अपने ही परिश्रम द्वारा उस गदले जल में फिटकरी डाल कर जल और कीचड़ को जुदा २ कर देता है, और इस प्रकार शुद्ध किये हुवे निर्मल जल को आस्वादन करता (पीता) है। ठीक इसी प्रकार वहुत से अज्ञानी जीव, कर्म संयोग से, जिनका ज्ञान-स्वभाव ढक गया है, ऐसी अशुद्ध आत्मा का अनुभव करते हैं, और कई एक अपनी बुद्धि से शुद्ध निश्चय नय के स्वरूप को जान, कर्म और आत्मा को जुदा २ कर देते हैं और फिर ऐसे निर्मल शुद्धात्मा का स्वानुभवरूप आस्वादन (स्वाद लेना) करते हैं। शुद्धनय कतक फल (निर्मली) के समान है, इसके श्रद्धान से सर्वसिद्धि होती है प्रश्न—यदि ऐसा है, तो फिर आचार्य व्यवहार का उपदेश क्यों करते हैं ?

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरादेशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ॥६॥

इसका उत्तर यह है कि अनादि काल के अज्ञानी जीव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यवहार नय के उपदेश विना वस्तु के स्वरूप को समझ नहीं सकते, इस वास्ते आचार्य, उनको व्यवहार नय के द्वारा ही समझाया करते हैं। उदाहरण,—जैसे किसी म्लेच्छ को एक "ब्राह्मण ने स्वस्ति" शब्द कहकर आशीर्वाद दिया, वह म्लेच्छ कुछ न समझा, और ब्राह्मण की ओर देखने लगा। तब वहाँ एक द्विभाषिया (Interpreter) आगया और उसने म्लेच्छ को उसकी भाषा में समझा दिया कि पंडित जी कहते हैं कि 'तुम्हारा भला हो' तब उसने आनन्दित (खुश) हो उस आशीर्वाद को अङ्गीकार किया। ठीक इसी प्रकार अज्ञानी जीव को आचार्य ने 'आत्मा' शब्द कह कर उपदेश दिया, वह अज्ञानी कुछ न समझा और आचार्य की ओर देखने लगा, तब व्यवहार तथा निश्चय दोनों नयों के जानने वाले आचार्य ने व्यवहारनय द्वारा, भेदानुभेद करके उसे बतलाया, कि यह जो देखने वाला, जानने वाला और आचरण करने वाला पदार्थ है, यह ही आत्मा है। तब उस अज्ञानी ने परम आनन्दित हो आत्मा का निज स्वरूप अङ्गीकार किया। यह सद्भूत व्यवहारनय का उदाहरण है। आगे असद्भूत व्यवहारनय का उदाहरण देते हैं। घी से भरे हुवे मिट्टी के घड़े को व्यवहार में घी का घड़ा कहते हैं, और कोई पुरुष जन्म से ही उसे घी का घड़ा जानता है, यहाँ तक कि वह उसे विना 'घी का घड़ा' कहे समझ ही नहीं सकता। मिट्टी का घड़ा कहने से भी नहीं समझ सकता। और कोई दूसरा पुरुष उसे कोरे घड़े के नाम से ही समझ लेता है; यथार्थ में विचारा जावे तो वह घड़ा मिट्टी का ही है, घी का नहीं, केवल उसको समझाने के लिये घड़े में घी का संबंध होने से ही घी का घड़ा कहा जाता है। ठीक इसी प्रकार चैतन्य स्वरूप

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मा कर्मजनित पर्याय संयुक्त है, उसे व्यवहार में देव मनुष्य इत्यादिक स्वरूप ही जानते हैं। कोई उनको, यदि उस आत्मा को देव, मनुष्य कहकर समझावे तो समझ जावें और यदि अकेला चैतन्य स्वरूप कह कर समझावें तो ठीक न समझें और कदाचित् समझें तो किसी पर-ब्रह्म-परमेश्वर को समझ बैठें। निश्चयपूर्वक विचारा जावे तो आत्मा चैतन्य रूप ही है, परन्तु अज्ञानियों को समझाने के लिये आचार्य गति, जाति आदि भेद द्वारा ही जीव का निरूपण करते हैं। इस प्रकार आचार्य अज्ञानी जीवों को ज्ञान प्राप्त कराने के लिये ही व्यवहार का उपदेश दिया करते हैं।

माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीत सिंहस्य।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ॥७॥

आगे केवल व्यवहार नय के श्रद्धान होने का ही कारण बतलाते हैं। जैसे जो बालक सिंह और बिल्ली दोनों को ही नहीं जानता और बिल्ली को ही सिंह मान लेता है, उसी प्रकार अज्ञानी निश्चय स्वरूप को न पहिचान, व्यवहार को ही निश्चय मान लेता है। अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान आचरण रूप मोक्षमार्ग को न पहिचान, केवल व्यवहार दर्शन, ज्ञान चारित्र का ही साधन कर अपने आप को मोक्ष का अधिकारी मान बैठता है, अर्थात् अरहन्तदेव, निर्ग्रन्थ गुरु और दयामय धर्म का ही श्रद्धान कर अपने आप को सम्यक्ती मानने लग जाता है, थोड़ी सी जिन वाणी को जान अपने को ज्ञानी मान लेता है और व्रतादिक क्रियाओं का साधन कर अपने आपको चारित्रवान मानने लग जाता है। इस भांति अज्ञानी जीव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस शुभोपयोग में ही सन्तुष्ट होकर शुद्धोपयोग रूप मोक्ष मार्ग में प्रमादी हो जाते हैं, और इस ही कारण केवल व्यवहार नय के ही अवलम्बी हो जाते हैं। इनको जिन वाणी का उपदेश सफल नहीं होता है अर्थात् वे मोक्षमार्ग न पाकर भटकते ही रहते हैं। यहाँ प्रश्न होता है, कि यदि ऐसे श्रोता उपदेश का लाभ नहीं पाते तो कैसे-गुण-संयुक्त श्रोता पाते हैं ?

व्यवहार निश्चयौ यः प्रबुध्य तत्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ॥८॥

श्रोताओं में अनेक गुण होने चाहियें परन्तु उन सब में व्यवहार निश्चय को जान करके एक पक्ष का हठग्राही न होना मुख्यगुण है। उक्तंच गाथा। "जइ जिणमयं पठिअह तोभा ववहार निच्छयं मुंच। एकेण मिण छिज्जई, तित्थं अणेण तच्चं च॥" अर्थात् जो तू जिन मत में लगता है, तो व्यवहार और निश्चय को मत छोड़, जो निश्चय का पक्षपाती होकर व्यवहार को छोड़ेगा तो रत्नत्रयस्वरूप धर्मतीर्थ का अभाव हो जावेगा। और जो व्यवहार का पक्षपाती होकर निश्चय को छोड़ेगा तो शुद्ध तत्व स्वरूप का अनुभव न होगा। इस वास्ते पहिले व्यवहार निश्चय को भली भांति जान, पीछे यथा योग्य अङ्गीकार करना, पक्षपाती न होना, यह उत्तम श्रोता का लक्षण है। यहाँ यदि कोई कहे कि जो गुण निश्चय व्यवहार का जानना पहले वक्ता का बतलाया था, वही श्रोता का क्यों बतलाया ? इसका उत्तर यह ही है कि जो गुण वक्ता में अधिकतारूप (बहुत) पाये जाते हैं, वही गुण श्रोता में हीनता रूप (थोड़े) पाये जाते हैं। अथवा वस्तु का यथार्थ स्वरूप जानने के लिये दोनों को ही, निश्चय व्यवहार का ज्ञान होना आवश्यक है॥ इति उत्थानिका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्रन्थ प्रारम्भः

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगन्धरसवर्णैः।
गुण-पर्य्यय-समवेतःसमाहितःसमुदयव्ययध्रौव्यैः ॥६॥

इस ग्रन्थ में पुरुष के अर्थ की सिद्धि के उपाय का व्याख्यान किया जावेगा। पहले ही बताते हैं कि पुरुष किसे कहते हैं और उसमें क्या क्या गुण होते हैं। पुरुष अर्थात् आत्मा चेतन स्वरूप है, स्पर्श, गन्ध, रस, वर्ण, आदिक से रहित अमूर्तिक है। गुण पर्य्याय संयुक्त है, उत्पादव्यय, ध्रौव्य संयुक्त है।

पुरुष=पुर, उत्तम चैतन्य गुण उनमें जो+शेते, स्वामी होकर रहे, या आनन्द लेवे, उसका नाम पुरुष है। या दूसरे शब्दों में कहें, तो ज्ञान दर्शन चेतना के स्वामी का नाम पुरुष है।

(क) चेतना आत्मा का, अव्याप्ति, अति व्याप्ति और असम्भव इन तीनों दोषों से रहित एक असाधारण लक्षण है। जो लक्षण कहा जाता है वह यदि किसी लक्ष्य में तो पाया जावे और किसी लक्ष्य में न पाया जावे, तो वह लक्षण अव्याप्ति दूषण युक्त लक्षण कहलाता है। कोई आत्मा ऐसी नहीं जो चेतना रहित हो, इसलिये आत्मा का चेतना लक्षण अव्याप्ति दूषण से रहित है। यदि आत्मा का लक्षण रागादिक कहें तो अव्याप्ति दूषण आता है, क्योंकि रागादिक संसारी जीवों के ही पाये जाते हैं, सिद्ध जीवों के नहीं। जो लक्षण लक्ष्य में भी पाया जावे और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अलक्ष्य में भी पाया जावे तो वह अति व्याप्ति दूषण युक्त लक्षण कहलाता है। चेतना लक्षण जीव पदार्थ बिना अन्य किसी भी पदार्थ में नहीं पाया जाता है। यदि आत्मा का लक्षण अमूर्तिक कहा जावे तो अति-व्याप्ति दूषण आता है, क्योंकि जैसे आत्मा अमूर्तिक है, वैसे ही धर्म, अधर्म, आकाश, काल द्रव्य भी अमूर्तिक हैं। इस कारण आत्मा का चेतना लक्षण अति-व्याप्ति दूषण से भी रहित है। जो लक्षण प्रमाण द्वारा सिद्ध न हो सके उसे असंभव कहते हैं। आत्मा का चेतना लक्षण इस असम्भव दूषण से भी रहित है, क्योंकि यह लक्षण आत्मा में प्रत्यक्ष, परोक्ष प्रमाण से अवाधित है। इस प्रकार आत्मा का चेतना लक्षण अव्याप्ति-अति व्याप्ति और असम्भव दूषणों से रहित है। यह चेतना दो प्रकार की होती है (१) ज्ञान चेतना (२) दर्शन चेतना। जो चेतना पदार्थों को विशेषता से साकार रूप जाने, उसे ज्ञान चेतना कहते हैं। जो चेतना पदार्थों को सामान्यता से निरा-कार रूप जाने, उसे दर्शन चेतना कहते हैं। परिणामों की अपेक्षा यह चेतना तीन प्रकार की होती है। ज्ञान चेतना, कर्म-चेतना, और कर्म-फल-चेतना। जब यह चेतना शुद्ध ज्ञान स्वभावरूप परिणमन करती है, तो ज्ञान चेतना कहलाती है। यह चेतना सम्यक्दृष्टि के ही होती है, इस चेतना में आत्मीय गुण का अनुभव होता है। जब यह चेतना रागादिक कार्यरूप परिणमन करती है तो कर्म-चेतना कहलाती है। जब यह चेतना सुख दुःख आदि भोगनेरूप परिणामों को करती है, तो कर्म-फल चेतना कहलाती है।

कर्म चेतना और कर्म-फल चेतना में फ़र्क़ यह है कि कर्म-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चेतना में ज्ञान पूर्वक क्रियाओं द्वारा कर्म की प्रधानता है और कर्मफल चेतना में कर्म करने की प्रधानता नहीं है, कर्मफल भोगने की प्रधानता है। इस प्रकार यह चेतना अनेक स्वाँग करती है, परन्तु इसका अभाव कभी नहीं होता; अन्यथा जीव का ही अभाव हो जावे।

(ख) यह पुरुष आठ प्रकार के स्पर्श (ठण्डा, गर्म, रूखा, चिकना, हल्का, भारी, नर्म और कठोर), दो प्रकार के गन्ध (सुगन्ध, दुर्गन्ध) पाँच प्रकार के रस (तीखा, कड़ुआ, कषायला, खट्टा, मीठा) और पंच प्रकार के वर्ण (सफ़ेद, लाल, पीला, नीला; काला) इत्यादि पुद्गलीक लक्षणों से रहित अमूर्तिक है। इस विशेषण से आचार्यने पुरुष अर्थात् आत्मा की पुद्गल द्रव्य से भिन्नता प्रकट की है। यह आत्मा अनादि सम्बन्ध रूप पुद्गल द्रव्य में, अहंकार, ममकार रूप प्रवृत्ति करता है। यदि अपने चैतन्य स्वभाव को अमूर्तिक जाने तो भाव कर्म, द्रव्य-कर्म, नो-कर्म, धनधान्यादिक पुद्गल द्रव्यों में अहंकार बुद्धि कदापि न करे।

(ग) पुरुष अर्थात् आत्मा गुण पर्यायरूप ही है। गुण-पर्य्यायों का समूह ही द्रव्य है। आत्मा द्रव्य है, इसीलिये गुण पर्य्याय सहित विराजमान है।

गुण का लक्षण सद्भूत है (सद्, द्रव्य के साथ है+भूत, सत्ता जिस की) और जो द्रव्य में हमेशा पाये जावें उन्हें गुण कहते हैं।

आत्मा में दो प्रकार के गुण साधारण तथा असाधारण हमेशा पाये जाते हैं। ज्ञान दर्शनादिक असाधारण गुण हैं जो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और द्रव्यों में नहीं पाये जाते हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्वादिक साधारण गुण हैं जो और भी द्रव्यों में पाये जाते हैं।

पर्याय का लक्षण क्रमवर्ती है, जो द्रव्य में अनुक्रम से उपजें और कदाचित पाई जावें, उन्हें पर्याय कहते हैं।

आत्मा में पर्यायें दो प्रकार की होती हैं—(१) नर-नारकादि आकृतिरूप व सिद्धाकृतिरूप व्यंजन पर्याय (२) रागादि परिणमन रूप वा षट्प्रकार वृद्धिहानि रूप अर्थ पर्य्याय।

इन गुण और पर्य्यायों से आत्मा की तदात्मक एकता है अर्थात् इन गुण और पर्य्यायों से भिन्न और कोई आत्मद्रव्य नहीं है। इस विशेषण द्वारा आत्मा का विशेषपना जाना जाता है।

(घ) पुरुष अर्थात् आत्मा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य संयुक्त है, नवीन अर्थ-पर्याय तथा व्यंजन-पर्य्याय के पैदा होने को उत्पाद कहते हैं। पूर्व पर्याय के नाश होने को व्यय कहते हैं और गुण की अपेक्षा या द्रव्य की अपेक्षा शाश्वतपने को ध्रौव्य कहते हैं। उदाहरण—जैसे सोने के कड़े को तोड़कर कुन्डल बनायें तो जिस समय कुन्डल बनाये, उसी समय कुन्डल की उत्पत्ति, कड़े का विनाश (व्यय) और सोने की अपेक्षा ध्रौव्य पना सिद्ध है।

इस विशेषण से आत्मा का अस्तित्व प्रकट होता है। यहाँ प्रश्न होता है कि ऐसे चैतन्य पुरुष के अशुद्धता कैसे और क्योंकर हो गई ?, जिसके कारण कि इसको अपने अर्थ की सिद्धि करने की आवश्यकता पड़ी।

परिणाममानो नित्यं ज्ञान-विवर्त्तैरनादि सन्तत्या।
परिणामानां स्वेषां स भवति कर्त्ता च भोक्ता च ॥१०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस आत्मा की अनादि काल से ही, रागादि परिणामों में परिणमन करने के कारण, अशुद्ध दशा हो रही है। कोई अब ही नवीन अशुद्धता इसमें नहीं आई। अनादि काल से ही यह सिल-सिला जारी है, कि द्रव्य कर्म से रागादिक भाव होते हैं, और उन रागादि भावों से फिर नवीन द्रव्य कर्मों का बन्ध होता है। "सुवर्ण कीटिका वत्" अर्थात् सोने और कीटिका के समान अनादि सम्बन्ध है। इस बन्ध के निमित्त से ही इस आत्मा को अपने ज्ञान स्वभाव की खबर नहीं होती है। और इसी लिये यह उदयागत कर्म पर्यायों में, इष्ट अनिष्ट भाव कर, राग, द्वेष, मोहरूप परिणमन करता है। यद्यपि इन परिणामों का कारण द्रव्य कर्म है, तथापि यह परिणाम अर्थात् भावकर्म चैतन्यमय हैं। इसलिये इनका आत्मा के साथ व्याप्य व्यापक भाव होने से आत्मा ही कर्ता और भाव्य भावक भाव से आत्मा ही भोक्ता है। जिस जगह भाव्य भावक का सम्बन्ध घटित होता है, वहाँ ही भोग्य भोजक का सम्बन्ध भी घटित होता है, और जगह नहीं।

व्याप्य व्यापक भाव—सहचारी, और क्रमभावी नियम को व्याप्ति कहते हैं। जैसे धूएं और अग्नि में सहचारीपना पाया जाता है, जहाँ धुआँ हो, वहाँ अग्नि जरूर होती है, अग्नि के बिना धुआँ हो नहीं सकता। ठीक इसी प्रकार रागादिक भावों और आत्मा में सहचारी पना पाया जाता है। जहाँ रागादिक होते हैं, वहाँ आत्मा जरूरी होता है, बिना आत्मा के रागादिक होते नहीं। इस व्याप्ति क्रिया में कर्म व्याप्य और कर्ता व्यापक होते हैं। रागादिक भाव आत्मा के करने से होते हैं, इसलिये वे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्याप्य और उनका कर्त्ता आत्मा व्यापक कहलाता है। जिस जगह ऐसा व्याप्य व्यापक सम्बन्ध पाया जाता है, वहाँ ही कर्ता कर्म सम्बन्ध अर्थात् कार्य कारण सम्बन्ध संभव है।

इसी प्रकार जो भाव अनुभव करने योग्य हों उन्हें भाव्य कहते हैं, और अनुभव करने वाले पदार्थ को भावक कहते हैं। आगे दिखलाते हैं कि पुरुष की अर्थ सिद्धि क्या होती है।

सर्व विवर्त्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति।
भवतितदाकृतकृत्यःसम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्नः ॥११॥

जब यह आत्मा स्व पर भेद विज्ञान द्वारा शरीरादिक पर द्रव्यों को जुदा जान लेता है तो उनमें 'यह भला, यह बुरा' ऐसी बुद्धि का त्याग कर देता है; क्योंकि जो भला बुरा होता है, वह सब अपने परिणामों से ही होता है, पर द्रव्य का किया हुआ कुछ भला बुरा नहीं होता। इसलिये प्रथम ही सर्व परद्रव्यों में रागद्वेष भावों का त्याग करना चाहिये। यदि ऐसा करने पर भी राग आदिक की उत्पत्ति होवे तो उसका विनाश करने के लिए अनुभव अभ्यास में उद्यमवान होना चाहिये। ऐसा अभ्यास होते होते जिस समय समस्त विभावों का नाश हो जावे, अक्षोभ समुद्रवत् शुद्धात्म स्वरूप में लवणवत् (नमक की भांति) लीन हो जाय, जहाँ ध्यान, ध्याता, ध्येय का विकल्प न रहे, ऐसा विचार न रहे कि मैं शुद्धात्म का ध्यान करता हूँ, बल्कि आप ही तदात्मक वृत्ति से शुद्धात्म स्वरूप होकर निष्कम्प परिणमन करे, उस समय उस दशा में यह आत्मा कृत्य-कृत्य कहलाता है, क्योंकि जो कुछ करना था सो कर चुका, अब कुछ करना बाक़ी नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रहा। आत्मा की इसी अवस्था को पुरुषार्थ-सिद्धि कहते हैं, क्योंकि पुरुष के अर्थ अर्थात् कार्य की सिद्धि जो होनी थी सो हो चुकी। इस पुरुषार्थ सिद्धि का उपाय जानने से पहले यह जानना जरूरी है कि आत्मा का पर द्रव्यों से सम्बन्ध होने का कारण क्या है?

जीव कृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्रपुद्गलाः कर्म भावेन ॥१२॥

जिस समय जीव रागद्वेष, मोह भावरूप (परिणमन) करता है, उस समय उन भावों का निमित्त पाकर पुद्गल द्रव्य आप ही कर्म अवस्था को धारण कर लेते हैं। भेद केवल इतना ही है कि यदि आत्मा देव, गुरु धर्मादिक प्रशस्त रागादिक रूप परिणमन करता है तो शुभ कर्म का बन्ध होता है, और यदि अप्रशस्त राग द्वेष मोह रूप परिणमन करता है तो पाप बन्ध होता है। यहाँ कोई प्रश्न करे कि जीव के महा सूक्ष्मरूप भावों की खबर जड़ पुद्गल को कैसे हो जाती है। नहीं तो विना खबर वे पुद्गल परमाणु पुण्य पाप रूप कैसे परिणमन करते हैं? इसका उत्तर यह है कि जैसे कोई मन्त्र साधक पुरुष किसी गुप्त जगह में बैठा हुवा मन्त्र को जपता है उसके बिना ही किये उस मन्त्र के निमित्त से किसी को पीड़ा हो जाती है, कोई प्राणान्त हो जाता है, किसी का भला हो जाता है, कोई पागल हो जाता है, उस मन्त्र में ऐसी शक्ति है, कि उसका निमित्त पाकर चेतन अचेतन अनेक पदार्थ अनेक २ अवस्थाओं को धारण कर लेते हैं। ठीक इसी प्रकार अज्ञानी जीव अन्तरङ्ग में विभाव भावरूप परिणमन किया करते हैं। इन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विभाव भावों का मिमित्त पाकर कोई पुद्गल पुण्य प्रकृतिरूप और कोई पाप प्रकृतिरूप परिणमन करता है। इस जीव के इन भावों में ही ऐसी विलक्षण शक्ति है, कि जिसके निमित्त से पुद्गल आप ही अनेक अवस्थाओं को धारण कर लेते हैं। ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। प्रश्न—इस जीव के जो विभाव भाव होते हैं, यह आप ही होते हैं या इनका भी कोई निमित्त कारण है।

✓ परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपिस्वकैर्भावैः
भवति हि निमित्त मात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥१३॥

उत्तर—इस जीव के रागद्वेषादिक विभाव भाव आप से ही नहीं होते हैं, क्योंकि यदि यह आप से ही होवें तो ज्ञान दर्शन के समान यह भी स्वभाव भाव हो जावें, और इनका कभी भी नाश न होवे। इसलिए यह भाव औपाधिक हैं, क्योंकि यह अन्य निमित्त से अर्थात् ज्ञानावरणादिक द्रव्य कर्मों के निमित्त से ही उत्पन्न होते हैं। जैसे २ द्रव्य कर्म उदय में आते हैं, वैसे २ ही आत्मा विभाव भावरूप परिणमन करता है। यहाँ कोई प्रश्न करे कि पुद्गल में ऐसी क्या शक्ति है जो चेतनानाथ को विभाव भाव-रूप परिणमन करा देती है ? उत्तर यह ही है कि जैसे किसी पुरुष के सिर पर मन्त्र से पढ़ी हुई मिट्टी डाल दी जाती है, तो वह उस मिट्टी के निमित्त से अपने आप को भूलकर नाना प्रकार की विपरीत चेष्टायें करने लग जाता है। जैसे मन्त्र के प्रभाव से मिट्टी में ऐसी शक्ति आ जाती है, कि स्याने पुरुष को पागल बना देती है; ठीक इसी प्रकार यह आत्मा अपने प्रदेशों में रागादिक के निमित्त से बन्धे हुवे पुद्गल परमाणुओं के कारण अपने आप

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को भूल कर नाना प्रकार विपरीत भावों में परिणमन करता है। तात्पर्य यह है कि इसके विभाव भावों से पुद्गल में ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जो चैतन्य पुरुष को विपरीत चलाती है। इस प्रकार भाव कर्मों से द्रव्य कर्मों की उत्पत्ति होती है, और द्रव्य कर्मों से भाव कर्म उत्पन्न होते हैं। इसी का नाम संसार है।

एवमयं कर्म कृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।
प्रतिभातिबालिशानां प्रतिभासःसखलुभवबीजम् ॥१४॥

यह अभी बतला चुके हैं कि पुद्गल कर्मों के कारण भूत रागादि भाव हैं और रागादि भावों का कारण पुद्गल कर्म हैं। इससे यह आत्मा निज स्वभाव भावों की अपेक्षा कर्म जनित नाना प्रकार के भावों से सर्वथा भिन्न चैतन्य मात्र वस्तु है जैसे लाल रंग के डांक (Setting) के निमित्त से स्फटिक लाल रंग का दिखाई देने लग जाता है। यथार्थ में लाल रंग का नहीं है, स्फटिक तो वास्तव में अपने ही निर्मल सफ़ेद रंग को लिए हुए है और लाल रंग की झलक ऊपर ही ऊपर है, जौहरी लोग जो इस बात के परीक्षक हैं वह स्फटिक रंग को भली भांति जानते हैं, परन्तु रत्न परीक्षा से अनभिज्ञ अनाड़ी स्फटिक को वास्तव में रक्त-मणिवत् लाल रंग स्वरूप ही देखते व मानते हैं। इसी प्रकार कर्मों के निमित्त से आत्मा रागादि रूप परिणमन करता है, परन्तु यथार्थ में यह रागादिक आत्मा के निज भाव नहीं हैं, आत्मा तो अपने शुद्ध निर्मल चैतन्य गुण संयुक्त ही विराजमान है। रागादिक आत्मा के निज स्वभाव से भिन्न ऊपर २ ही झलक मात्र दिखाई पड़ते हैं। ज्ञानी जीव तो आत्मा के शुद्ध निर्मल स्वभाव को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भली भांति जानते हैं, परन्तु जो भेद विज्ञान से शून्य हैं, उन
आत्मा रागादिक विभाव रूप ही प्रतिभासित होता है। यहाँ
प्रश्न करे कि पहले तो आपने रागादिक भाव जीव कृत बतलाए
यहाँ अब उनको कर्म कृत कैसे बतलाते हो ? उत्तर यह है—रा
दिक भाव चेतना रूप हैं, इस वास्ते इनका कर्त्ता जीव ही है
कहा; परन्तु ये मूल भूत जीव के शुद्ध स्वभाव नहीं हैं, ये रा
दिक भाव उदय प्राप्त कर्मों के निमित्त से होते हैं इसलिए इन
कर्मकृत कह दिया गया है। जैसे किसी मनुष्य के भूत आ जावे
वह मनुष्य उस भूत के निमित्त से नाना प्रकार की विप
चेष्टाएं करता है। निश्चय से उन चेष्टाओं का कर्ता तो मनुष्य
है, परन्तु यह चेष्टाएं उस मनुष्य का निज भाव नहीं हैं भूत
ही कही जाती हैं। इस ही प्रकार यह जीव कर्मों के निमित्त
नाना प्रकार विपरीत भावरूप परिणमन करता है। इन भावों
कर्ता तो जीव ही है परन्तु यह भाव जीव के निज स्वभाव न हो
के कारण कर्मकृत कहे जाते हैं। अथवा कर्मकृत नाना प्रकार
पर्याय, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, कर्म, नोकर्म, देव, नारकी, मनु
तिर्यञ्च, शरीर, संहनन, संस्थानादि भेद, व पुत्र मित्रादि,
धान्यादि भेदों से शुद्धात्मा प्रत्यक्ष ही भिन्न है। उदाहरण—
मनुष्य अज्ञानी गुरु के उपदेश से एक छोटे से भौहरे में
कर भैंसे के रूप का ध्यान करने लगा और अपने को भै
मान, भैंसे जैसे बड़े और मोटें शरीर के चिंतवन में आक
पर्यन्त सींगों वाला बन गया, तब इस चिंता में पड़ा कि इस
से भौहरे में से मेरा इतना बड़ा शरीर कैसे निकल सकेगा
यह भैंसा मानने वाला यदि अपने को भैंसा न माने तो मनु
तो बना बनाया ही है। ठीक इसी प्रकार यह जीव मोह के निमि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से अपने को वर्णादि स्वरूप मानकर देवादिक पर्यायों को आपा न माने, तो निर्मल अमूर्तिक शुद्ध आत्मा तो आप बना बनाया ही है। सारांश, यह आत्मा कर्मजनित रागादिक भावों से हमेशा ही भिन्न है। निश्चय पूर्वक आत्मा कर्म जनित भावों से संयुक्त प्रतिभासता संसार का बीज भूत अर्थात् मूलकारण है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि मिथ्या दर्शन ही संसार का मूल कारण है।

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्वम्।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्यु पायोऽयम् ॥१५॥

मिथ्यादर्शन के समूल नष्ट करने को सम्यक् दर्शन कहते हैं—कर्मजनित पर्यायों से शुद्ध चैतन्य स्वरूप के यथावत् जानने को सम्यक् ज्ञान, और कर्मजनित पर्यायों से उदासीन हो निज-स्वरूप में स्थिरभूत होने को सम्यक् चारित्र कहते हैं। इन तीनों का समुदाय ही कार्य सिद्धि होने का उपाय है। यह रत्नत्रय धर्म ही मोक्ष का मार्ग है, अन्य नहीं।

अनुसरतां पदमेतत् करम्बिताचारनित्यनिरभिमुखा।
एकान्तविरतिरूपाभवतिमुनीनामलौकिकीवृत्तिः ॥१६॥

इस रत्नत्रय धर्म का पालन मुनिराज सर्वथा किया करते हैं, और गृहस्थ एकोदेश पालन करते हैं। महामुनियों की प्रवृत्ति जगत् के लोगों से सर्वथा निराली होती है। गृहस्थों का आचरण पाप क्रियाओं से मिला हुआ होता है। ऐसे आचरण से महामुनि सर्वथा दूर रहते हैं। मुनिराज पाप क्रियाओं से त्यागरूप, परद्रव्यों से उदासीन रूप हुआ करते हैं, वे केवल अपने ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मीक चैतन्य स्वभाव का अनुभव किया करते हैं। आगे उपदेश देने का अनुक्रम बतलाते हैं।

बहुशः समस्त विरतिं प्रदर्शितां यो न जातु ग्रह्णाति।
तस्यैकदेशविरतिः कथनीयानेन बीजेन ॥ १७ ॥

यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम् ॥ १८ ॥

अक्रम कथनेन यतः प्रोत्सहमानोऽतिदूरमपि शिष्यः
अपदेऽपि सम्प्रतृप्तःप्रतारितो भवतितेनदुर्मतिना ॥१९॥

जो जीव उपदेश सुनने का अभिलाषी हो, उसे पहले मुनिधर्म का उपदेश देना चाहिये, और वह यदि मुनिधर्म ग्रहण करने के योग्य सामर्थ्य न रखता हो तो बाद में उसे श्रावक धर्म का उपदेश देवें। क्योंकि यदि उपदेश दाता पहले मुनिधर्म को न सुनाकर श्रावक धर्म का उपदेश देता है, तो जिन मतमें उसे प्रायश्चित्तरूप दंड देने योग्य बतलाया गया है। क्योंकि जिस शिष्य के अन्तरङ्ग में इतना उत्साह था कि यदि उसे पहले मुनिधर्म सुना दिया जाता तो वह मुनिपद को ही ग्रहण कर लेता, परन्तु उपदेशदाता पहले ही श्रावक धर्म का व्याख्यान करने लगा, तो वह उससे ही सन्तुष्ट हो गया। ऐसी हालत में मुनिधर्म को ठगाने का दंड उपदेशदाता को ही देना चाहिये। अब आगे जो जीव मुनिधर्म के भारको उठाने की सामर्थ्य नहीं रखते, उनके लिये आचार्यवर श्रावक धर्म का व्याख्यान करते हैं।

———

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रावक धर्म व्याख्यान

एवं सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मको नित्यम् ।
तस्यापि मोक्षमार्गो भवति निषेव्यो यथाशक्तिः ॥२०॥

मुनिराज तो मोक्ष मार्ग का सेवन पूर्ण रूप से करते ही हैं, किन्तु गृहस्थ को भी यथाशक्ति थोड़ा बहुत सेवन करना चाहिए। सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चरित्र की एकता होना मोक्ष का मार्ग है—इन्हीं को तीन रत्न या रत्नत्रय कहते हैं। यही मोक्ष का साधन है॥

तत्रादौसम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन ।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च ॥२१॥

इस जीव का हितकारी उपाय सम्यक्-दर्शन समान और कोई नहीं है, विना सम्यक्-दर्शन ग्यारह अंग दस पूर्व तकके पाठीका ज्ञान भी अज्ञान ही कहलाता है और महाव्रतादि के साधन से अन्तिम ग्रैवेयक पर्यन्त वन्धयोग्य विशुद्ध परिणामों से भी असंयमी कहलाता है। परन्तु सम्यक् सहित होने से थोड़ा सा ज्ञान भी सम्यक्-ज्ञान और थोड़ा सा भी त्यागरूप आचरण सम्यक् चारित्र कहलाता है, जैसे अङ्क सहित होने से बिन्दी भी प्रमाणता में आ जाती है। इसलिये सबसे पहले सम्यक्त को ही अङ्गकार करना जरूरी है। अन्य साधन उसके बाद आते हैं।

जीवाजीवादीनां तत्वार्थानां सदैव कर्तव्यम् ।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूपंतत् ॥२२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यक् दर्शन—तत्वार्थ श्रद्धान सम्यक्त्वका लक्षण है यह तत्वार्थ श्रद्धान दो प्रकार का होता है एक सामान्य रूप और एक विशेषरूप (तत्वार्थ=तत्व–सारभूत+अर्थ—जो निश्चय किया जावे, ऐसा पदार्थ) परभावों से भिन्न अपने चैतन्य स्वरूप को आपरूप श्रद्धान करना सामान्य तत्वार्थ श्रद्धान कहलाता है। यह नारकी तिर्यञ्चादिक समस्त ही सम्यक्-दृष्टि जीवों के लब्धि व उपयोगरूप में पाया जाता है। व्यवहार दृष्टि से जीव अजीवादिक सप्त-तत्वों को विशेषता पूर्वक जानकर श्रद्धान करना विशेष तत्वार्थ श्रद्धान कहलाता है। यह मनुष्य देवादिक विशेष ज्ञानी जीवों के पाया जाता है। परन्तु राजमार्ग से सप्त-तत्वों का जानना ही सम्यक् श्रद्धान होने का कारण है; क्योंकि यदि तत्वों के स्वरूप को ही नहीं जाने तो श्रद्धान किसका करे? इसलिये यहाँ प्रसंगवश इन सातों तत्वों का संक्षेप से वर्णन करना कुछ अनुचित न होगा।

(१) जीवतत्व—जो चेतना लक्षण सहित विराजमान हो उसे जीव कहते हैं इसके तीन भेद हैं, शुद्ध, अशुद्ध, और मिश्र।

(क) जिन जीवों के सर्वगुण, पर्याय, अपने निज भाव रूप परिणमन करते हैं, अर्थात् जिनके केवल ज्ञानादिक शुद्ध परणति पर्याय में विराजमान हो गये हों, वे शुद्ध जीव कहलाते हैं, उनही को **परमात्मा** कहते हैं।

(ख) जिन जीवों के सम्पूर्ण गुण पर्याय विकार भाव को प्राप्त हो रहे हों, अर्थात् जिनके ज्ञानादिक गुण कर्म-आवरण से आच्छादित हो रहे हों। और यदि वे गुण थोड़े बहुत प्रकट रूप हों तो विपरीत रूप परिणम रहे हों और जिनकी परिणति रागादि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रूप परिणमन कर रही हो, वे मिथ्यादृष्टि अशुद्ध जीव कहलाते हैं। इनको बहिरात्मा कहते हैं।

(ग) जिन जीवों के सम्यक्तादि गुण कुछ विमल रूप हो गये हों और कुछ समल हों। ज्ञानादिक गुणों की कुछ शक्ति शुद्ध हो गई हो, और बाक़ी अशुद्ध रह गई हो; कोई गुण अशुद्ध ही हो रहे हों, और जिनकी परणति शुद्धाशुद्ध रूप परिणमन करती हो, वे जीव शुद्धाशुद्ध रूप मिश्र जीव कहलाते हैं। इनही को अन्तरात्मा कहते हैं।

(२) अजीवतत्व—जो पदार्थ चेतना गुण रहित हों, उन्हें अजीवतत्व कहते हैं—इसके पाँच भेद हैं। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

पुद्गल—जिस द्रव्य में रस, गन्ध, स्पर्श, वर्ण यह चार गुण पाये जावें, उसे पुद्गल कहते हैं। इस पुद्गल के दो भेद हैं। एक अणु, दूसरा स्कन्ध। अणु—एकाकी अविभागी (जिसका और खण्ड न हो सके) परमाणु को अणु कहते हैं। स्कन्ध—दो या दो से अधिक अणुओं के समुदाय को स्कन्ध कहते हैं। अनन्त परमाणु के मिलने तक स्कन्ध कहे जाते हैं। निश्चय नय से एक परमाणु को ही पुद्गल द्रव्य कहते हैं। व्यवहार नय से स्कन्धों को पुद्गल द्रव्य कह दिया जाता है। यह स्कन्ध पुद्गल द्रव्य छह प्रकार के होते हैं—

१—स्थूल स्थूल—जो छेदने भेदने तथा दूसरे स्थान पर ले जाने योग्य हों, तथा खण्ड किये जाने पर स्वयमेव न मिल सकें, जैसे काष्ट पाषाण आदि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२—स्थूल—जो छेदने भेदने तथा अलग-अलग किये जाने पर तुरन्त ही स्वयं मिल सकते हैं। जैसे घी, तेल, जल, दूध आदि।

३—स्थूल सूक्ष्म—जो आँखों से तो दिखाई देवें, परन्तु पकड़े न जा सकें। जैसे आताप, चान्दनी, प्रकाश, अन्धकार आदि।

४—सूक्ष्म स्थूल—जो आँखों से तो दिखाई न देवें, परन्तु अन्य चार इन्द्रियों के द्वारा जाने जाते हों। जैसे वायु, रस, शब्द आदि। व्यञ्जनावग्रह, मन और चक्षु से नहीं होता है शेष चार इन्द्रियों से होता है—सूक्ष्मस्थूल पदार्थों को ही ग्रहण करता है।

सूक्ष्म—जो इन्द्रिय गम्य न हों अर्थात् जो किसी भी इन्द्रिय द्वारा न जाने जावें। जैसे कार्माण वर्गणायें।

६—सूक्ष्म सूक्ष्म—जो इन कर्म वर्गणाओं से भी सूक्ष्म दो अणु के स्कन्ध तक हैं।

धर्म द्रव्य—जो द्रव्य जीव और पुद्गल के चलने में सहकारी होता है, उसे धर्म द्रव्य कहते हैं; यह एक अमूर्तिक अखण्ड, लोकाकाश प्रमाण, असंख्यात प्रदेशी द्रव्य है। इसमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण नहीं है। जैसे जल मछली के गमन में सहायक होती है, उसी प्रकार यह धर्म द्रव्य भी गमन करते हुए जीव और पुद्गल की तरफ़ उदासीन होते हुए भी, उनकी गति के लिये सहकारी कारण है।

अधर्म द्रव्य—जो द्रव्य जीव और पुद्गल के ठहरने में सहकारी कारण होता है, उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं। धर्म द्रव्य की तरह यह द्रव्य भी एक अखण्ड, अमूर्तिक लोकाकाश प्रमाण असंख्यात् प्रदेशी है। इसमें भी स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदिक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं है। जैसे धर्म द्रव्य जीव और पुद्गल के गमन करने में सहकारी होता है, वैसे ही यह अधर्म द्रव्य उनके ठहरने में सहकारी होता है। जैसे छाया पथिकों के ठहरने में कारण होती हैं, वैसे ही जीव पुद्गल के ठहरने में निश्चय नय से तो उनका ही स्वभाव उनकी स्थिति के लिये उपादान कारण है, व्यवहारनय से अधर्म द्रव्य है।

आकाश—जो द्रव्य सर्व-द्रव्यों को अवकाश देने की शक्ति रखता है, उसे आकाश द्रव्य कहते हैं। यह एक सब से बड़ा अमूर्तिक द्रव्य है। इसके दो भेद हैं—एक लोकाकाश दूसरा अलोकाकाश। जहाँ जीव, पुद्गल, धर्म अधर्म और काल यह पाँच द्रव्य पाये जाते हैं, वह लोकाकाश कहलाता है और जहाँ यह नहीं पाये जाते, केवल आकाश ही आकाश पाया जाता है, वह अलोकाकाश कहलाता है। इन दोनों का सत्व जुदा जुदा नहीं है, द्रव्य एक है, क्योंकि जुदा होने से अलोकाकाश में काल न होने के कारण, परिणमन न होगा और अपरिणामी होने से द्रव्य का विनाश हो जावेगा। कालद्रव्य—जो द्रव्य सर्वद्रव्यों के परिवर्तन करने में समर्थ है और जो निश्चय से वर्तनाहेतुत्व लक्षण से संयुक्त है उसे काल द्रव्य कहते हैं। यह लोक के एक-एक प्रदेश पर स्थित एक परमाणुमात्र असंख्यात द्रव्य है। "जैसे रत्नों का ढ़ेर सब स्थान रोक कर भी भिन्न भिन्न रत्न को रखता है। वैसे कालाणु सब लोकाकाश में एक-एक प्रदेश एक-एक करके व्याप्त हैं तथापि वे कभी किसी से मिलते नहीं हैं।" निश्चय काल से द्रव्यों का परिणमन होता है, द्रव्यों के परिणमन से व्यवहार काल का ज्ञान होता है। जिससे निश्चय काल का बोध होता है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

घड़ी, घण्टे, मिनट आदि व्यवहार समय पुद्गलों के परिणमन से ही उत्पन्न है। निश्चय काल परिणामों का उत्पन्न करने में सहकारी कारण है, व्यवहार काल इस निश्चय काल की एक पर्याय है।

इस प्रकार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल छह द्रव्यों का संक्षिप्त वर्णन किया गया। इनमें से काल बहु-प्रदेशी नहीं है, एक प्रदेश मात्र है। इसलिये इसको कार्य रहित समझकर बाकी पाँचों द्रव्यों को बहुप्रदेशी होने के कारण **पंचास्तिकाय** कहा जाता है।

जीव अजीव का वर्णन तो ऊपर आ चुका—अब बाकी पाँच तत्वों अर्थात् आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष (जो जीव, अजीव दोनों तत्वों के परस्पर सम्बन्ध से होते हैं) का संक्षिप्त वर्णन कहते हैं।

३—आस्रव तत्व-जीव के रागादिक परिणामों से, मन वचन, काय के योगों द्वारा, पुद्गल परमाणुओं के आने को आस्रव कहते हैं। यह आस्रव दो प्रकार का होता है भावास्रव और द्रव्यास्रव।

भावास्रव—आत्मा के जिन रागादिभावों से पुद्गल द्रव्य कर्म रूप होते हैं, उन भावों के होने को भावास्रव कहते हैं, भावास्रव के ३२ भेद होते हैं। मिथ्यात्व ५, अविरति ५, प्रमाद १५, योग ३ और कषाय ४। (विशेष के लिये देखो आस्रव भावना)।

द्रव्यास्रव—ऐसे पुद्गल परमाणुओं का कि जिनमें ज्ञानावर-णादि कर्मरूप होने की शक्ति होती है, आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाही होने के लिये आना द्रव्यास्रव कहलाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

४—वन्धतत्व—जीव के अशुद्ध भावों के कारण खिंचे हुवे पुद्गल परमाणुओं का, ज्ञानावरणादिक रूप, अपनी स्थिति सहित, अपने अपने रस संयुक्त, आत्म प्रदेशों के साथ सम्बन्ध रूप होने का नाम बन्ध तत्व है। बन्ध दो प्रकार का होता है एक भाव बन्ध और एक द्रव्यबन्ध।

द्रव्य बन्ध—पुद्गल कार्माण जाति की वर्गणायें सर्वलोक में फैली हुई हैं, इन वर्गणाओं का आत्मा की योग शक्ति परिणमन से खिंच कर, आत्मा के प्रदेशों के साथ परस्पर एक क्षेत्रवगाह सम्बन्ध कर लेने का नाम द्रव्यबन्ध है।

भावबन्ध—इस द्रव्य बन्ध के निमित्त कारण आत्मा के शुभ तथा अशुभ परिणाम हैं, इन भावों को भाव बन्ध कहते हैं।

बन्ध के चार भेद हैं—प्रकृति बन्ध, प्रदेश बन्ध, स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध। इनमें से पहले दो अर्थात् प्रकृतिबन्ध और प्रदेश बन्ध, तो मन, वचन, काय की क्रिया से होते हैं और स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध कषायों से होते हैं। (विशेष के लिये देखो रत्नत्रय धर्म में बन्ध का वर्णन)।

५—सम्बरतत्व—जीव के रागादिक अशुद्ध परिणामों के अभाव से कर्म परमाणुओं के आस्रव का रुकना संबर तत्व कहलाता है। संबर भी दो प्रकार का होता है—भाव संबर और द्रव्य संबर। निर्मल आत्मा के अनुभव के बल से शुभ तथा अशुभ भावों का रुकना भाव संबर है—व्रत, समिति, गुप्ति, दश धर्म बारह भावना आदि सब भाव संबर के ही भेद हैं। द्रव्य कर्मों के आस्रव के रुक जाने को द्रव्य संवर कहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

६—निर्जरातत्व—जीव के शुद्धोपयोग, व शुभोपयोग के बल से, अथवा स्थिति पूर्ण हो जाने से, बन्धे हुए कर्मों के एकोदेश नाश होने को निर्जरा कहते हैं। यह निर्जरा दो प्रकार की होती है—

१—सविपाक निर्जरा। २ अविपाक निर्जरा।

सविपाक निर्जरा—स्थिति पूर्ण हो जाने पर पूर्व बद्ध कर्मों का उदय में आकर, फल देकर या बिना निमित्त पाये फल दिये बिना यों ही झड़जाना सविपाक निर्जरा है, यह सब ही संसारी जीवों के होती है। यह निर्जरा मोक्ष का कारण भूत नहीं होती।

अविपाक निर्जरा—पूर्व बद्ध कर्मों का स्थिति पूर्ण होने से पहले ही, तपश्चरणादि द्वारा बिना फल दिये, गिरा देने का कारण अविपाक निर्जरा है; यह निर्जरा मोक्ष का कारण भूत होती है। यह रत्नत्रय गर्भित वीतराग भावों से होती है। जितने अंशों में वीतरागता होती है, उतने-उतने अंश पूर्व बद्ध कर्म रस रहित होकर गिरते जाते हैं। निर्जरा का मुख्य उपाय भेद विज्ञान तथा आत्म-विचार है। जिन परिणामों से कर्मों का आत्मा से झड़ना होता है, वह भाव निर्जरा है। पूर्व बद्ध कर्म पुद्गलों का रस रहित होकर आत्मा के प्रदेशों से झड़ जाने तथा बन्धस्वरूप न रहने का नाम द्रव्य निर्जरा है।

७—मोक्षतत्व—जीव के समस्त कर्मों के सर्वथा नाश होने और उसके निज स्वभाव के प्रगट होने को मोक्ष कहते हैं। द्रव्य कर्मों के आत्मा से जुदा होने को द्रव्य मोक्ष कहते हैं। आत्मा का जो परिणाम आत्मा के समस्त कर्मों के क्षय होने का कारण है, वह भाव मोक्ष है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन उपर्युक्त सात तत्वों के अर्थ का यथार्थ श्रद्धान करने का नाम ही सम्यक् दर्शन है।

यदि यहाँ कोई प्रश्न करे कि सम्यक् दर्शन के इस लक्षण में अव्याप्ति दूषण आता है, क्योंकि जिस समय सम्यक् दृष्टि विषय कषाय की तीव्रता संयुक्त होता है, उस समय उसकी यह श्रद्धा नहीं होती। लक्षण ऐसा होना चाहिये जो लक्ष्य में हर समय और हर अवस्था में पाया जावे। उत्तर—जीव के श्रद्धानरूप और परिणमनरूप दो भाव होते हैं, इनमें से श्रद्धानरूप तो सम्यक् का लक्षण है और परिणमनरूप चरित्र का लक्षण है। सम्यक् दृष्टि विषय कषाय की तीव्रता की हालत में परिणमनरूप होता है, किन्तु श्रद्धानरूप नहीं, तत्वार्थ श्रद्धान में तो उसकी प्रतीति ठीक वैसी ही है जैसी कि होनी चाहिये। दृष्टान्त—जैसे एक गुमाश्ता किसी साहूकार के यहाँ नौकर है वह अपने अन्तरङ्ग में साहूकार के कारबार तथा धन सम्पत्ति आदि को अपना न जानते हुवे भी, "मेरा मेरा" कह कर पुकारता है। उसके नफे टोटे में हर्ष विषाद भी करता है और परत्व के भाव को (परायेपने का विश्वास) कभी प्रगट नहीं करता है। परन्तु यह परत्व का विश्वास उसके अंतरंग में शक्ति रूप विद्यमान रहता है, कदाचित् वह साह के धन की चोरी करके उसके धन को अपना समझने लगता है, तो वह अपराधी ठहरता है। किन्तु जिस समय यह गुमाश्ता साह के सामने अपना हिसाब पेश करता है, तो उस समय अपने अन्तरङ्ग के विश्वास को साफ २ प्रगट कर देता है। साह की नौकरी को वह पराधीन दुःख जानता है, धन हीन होने के कारण आजीविका के वश मजबूरन नौकरी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करता है। ठीक इसी प्रकार ज्ञानी जीव उदयागत कर्मों के फल को भोगता है; अन्तरङ्ग में वह निश्चय पूर्वक जानता है कि यह सब औदयिक ठाठ है, मेरा निज स्वरूप जुदा ही है। परिणमन-रूप से वह इष्ट अनिष्ट में हर्ष विषाद भी प्रगट करता है, बाह्य औदयिक सम्बन्ध को "मेरा मेरा" भी कहता है, अपनी निश्चय प्रतीति को बार-बार संभालता भी नहीं है; क्योंकि यह प्रतीति कर्म उदय के समय शक्तिरूप विद्यमान रहती है। परन्तु जिस समय वह उस कर्म का और अपने स्वरूप का विचार करता है, तो अन्तरङ्ग में जैसी प्रतीति है, उसी को प्रगट करता है।

ज्ञानी जीव यदि कर्म के उदय को श्रद्धान पूर्वक अपने जानता हैं,तो मिथ्यात्वी ही कहलाता है। ज्ञानी कर्म के उदय को पराधीन दुःख जानता है। वह अपने शुद्धोपयोग की हीनता के कारण ही पूर्व-बद्ध कर्मों के वश होकर मजबूरन कर्म के औदयिक भावों में प्रवृत्ति करता है।

इस प्रकार सम्यक् दृष्टि के तत्वार्थ श्रद्धान सामान्यरूप या विशेषरूप, शक्ति अवस्था या व्यक्त (प्रगट) अवस्था को लिये हमेशा ही पाया जाता है।

यहाँ यदि फिर कोई प्रश्न करे कि इस लक्षण में अव्याप्ति दूषण तो नहीं पाया जाता, परन्तु अतिव्याप्ति दूषण तो अवश्य ही आता है; क्योंकि द्रव्यलिङ्गी मुनि जिन प्रणीत सप्त तत्वों को ही मानते हैं, अन्य मत कल्पित तत्वों को नहीं मानते। लक्षण ऐसा होना चाहिये जो लक्ष्य बिना और जगह न पाया जावे। इसका उत्तर यह है—द्रव्यलिङ्गी मुनि जिन प्रणीत तत्वों को तो मानते हैं, परन्तु विपरीताभिनिवेश संयुक्त (उल्टे रूप) मानते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। वे शरीराश्रित क्रियाकाण्ड को ही आपा मान बैठते हैं। अजीव तत्व में ही जीवत्व मानते हैं और फिर आस्रव बन्धरूप शील संयमादिक परिणामों को ही संवर निर्जरा रूप मान मोक्ष का कारण मान बैठते हैं। द्रव्यलिङ्गी मुनि पाप रूप क्रियाओं से तो बेशक विरक्त हो जाते हैं, परन्तु पुण्य में ही उपादेय बुद्धि कर परिणमन किया करते हैं। इस लिये उनके यथार्थ तत्वार्थ श्रद्धान नहीं है।

इस प्रकार तत्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यक् दर्शन का ही अङ्गीकार करना जरूरी है।

सम्यक्त के अष्ट अङ्ग

आगे सम्यक्त के आठ अङ्गों का वर्णन करते हैं।

सकलमनेकान्तात्मकमिदमुक्तं वस्तुजातमखिलज्ञैः।

किमुसत्यमसत्यंवा न जातु शंकेति कर्तव्या ॥२३॥

१ निःशङ्कित, २ निःकांक्षित, ३ निर्विचिकित्सा, ४ अमूढ़ दृष्टि, ५ उपब्रंहण, ६ स्थितिकरण, ७ प्रभावना और ८ वात्सल्य। ये आठ अङ्ग सम्यक् दर्शन के हैं।

शङ्का अर्थात् भय से रहित जो आत्मा का परिणाम वही निःशङ्कित भाव कहलाता है। सर्वज्ञ देव ने समस्त जीवादिक पदार्थों का समूह अनेक स्वभाव रूप कहा है, सो क्या यह सत्य है? या असत्य है? इस प्रकार की शङ्का कभी भी नहीं करनी चाहिये। जिनेन्द्र भगवान अन्यथावादी नहीं हैं, इसलिये जिन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रणीत पदार्थों में सन्देह नहीं करना इसको भी निःशङ्कित अङ्ग कहते हैं। "सम्यक् दृष्टि को कोई भी भय छूने तक नहीं पाता—भय तो मिथ्या दृष्टि को ही हुआ करता है। मिथ्या दृष्टि कर्म जनित शरीरादिक पर्यायों को ही आत्मतत्व समझ बैठते हैं, उन्हें ही मरने जीने आदि के भय हुआ करते हैं। जो जीव भय सहित पराधीन होते हैं, वह आत्मानुभव से गिरे हुए होते हैं; जो स्वस्थ हैं वह आत्मानुभव शील होते हैं और उनको किसी प्रकार का भी भय होना असम्भव होता है" (पञ्चाध्यायी भाषा टीका से उधृत)। जिनके स्वानुभव होता है, उन्हें भय नहीं लगता सम्यक् दृष्टि स्वानुभवी होने के कारण निःशङ्क होता है। इसीलिये वह शंका रहित अर्थात् भय रहित ही होता है उसके नीचे लिखे सात प्रकार के भय नहीं होते—१ इस लोक भय, २ परलोक भय, ३ वेदना भय, ४ अरक्षा भय, ५ अगुप्ति भय, ६ मरण भय, ७ आकस्मिक भय।

इह जन्मनि विभवादीनमुत्र चक्रित्व केशवत्वादीन।
एकान्तवाददूषितपरसमयानपिचनाकांक्षेत् ॥२४॥

निःकांक्षित नाम वाँछा रहित का है। सम्यक् दृष्टि जीव इस लोक सम्बन्धी पुण्य के फल, ऐश्वर्य, सम्पदा, पुत्रादिक, और परलोक सम्बन्धी पुण्य के फल चक्रवर्ती, नारायण, इन्द्रादिक पदों की वाँछा नहीं करता है, क्योंकि वह पुण्य के फल रूप इन्द्रियों के विषय भोगों को आकुलता के निमित्त से दुःख रूप ही जानता है। सम्यक्-दृष्टि, एकान्त-वादी अन्य धर्मों को भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्रहण करने की वांछा नहीं करता है। इसका नाम निःकाँक्षित अङ्ग है।

क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु ।
द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया ॥२५॥

विचिकित्सानाम "न सुहावने" अथवा ग्लानि का है। ग्लानि रहित होने का नाम निर्विचिकित्सा है। पाप कर्म के उदय से दुःखदायक भावों का संयोग होने पर उद्वेग रूप नहीं होना चाहिये, क्योंकि कर्म-उदय आधीन-कार्य अपने वश का नहीं होता है, और उस उदयाधीन दुःख से अमूर्तिक आत्मा का घात भी नहीं होता है।

विष्टादिक निन्द्य वस्तुओं से भी ग्लानि नहीं करनी चाहिये, क्योंकि उन का स्वभाव ही ऐसा है, हमें उससे क्या? जिस शरीर में हमारा ज्योति स्वरूपी आत्मा तिष्टता है, वह तो और भी निन्द्य है।

"निर्विचिकित्सा गुण का पालन करने वाला अपने में अधिक गुण समझ कर, अपनी प्रशंसा नहीं करता, दूसरों की हीनता सिद्ध करने की बुद्धि नहीं रखता, जो पुरुष खोटे कर्म के उदय से दुःखी हो रहा है, और तीव्र असातावेदनीय कर्म के उदय के कारण निन्द्य स्थ न बन रहा है, ऐसे पुरुष के विषय में सम्यक-दृष्टि अपने चित्त में अदया बुद्धि नहीं होने देता। वह कभी ऐसा अज्ञान रूप विचार नहीं करता, कि मैं सम्पत्तियों का घर हूं; यह वेचारा दीन विपत्तियों का घर है, मेरे समान यह नहीं हो सकता।" (पंचाध्यायी भाषा टीका) वह विचारता है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कि संसारी जीवों में जो भेद हैं, वह सब कर्म कृत हैं, परन्तु वास्तव में सब ही आत्मायें समान हैं। इस प्रकार भूख, प्यास, जाड़ा, गर्मी आदि नाना प्रकार के दुःखदायी भावों में अथवा दीन दुःखी जीवों में या विष्टादिक निन्द्य पदार्थों में ग्लानि न करने का नाम निर्विचिकित्सा है।

लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे।
नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्तव्यममूढदृष्टित्वम् ॥ २६

लोक में अनेक जीव विपरीत भावरूप प्रवृत्ति करते हैं, सम्यक् दृष्टि को उनकी देखा देखी कभी भी प्रवृत्ति नहीं करना चाहिये, ज्ञान पूर्वक विचार कर ही कार्य करना चाहिये। अन्य मतावलम्बियों द्वारा रचित कल्पित ग्रन्थ जो सच्चे ग्रन्थ से जचें, अन्य कल्पित मत, किसी एक खास क्रिया के भली सी दिखाई देने के कारण, सच्चे सरीखे मालूम हों। अन्य वादियों द्वारा कथित झूठे तत्व किसी खास युक्ति सी को देखने के कारण सत्य रूप प्रतीत होते हों। अन्य झूठे देव किंचित् चमत्कारादि दिखाने के कारण सच्चे देव समान मालूम हों। विषय कषायों का लंपटी, दुर्भेषी, साधु अपने किसी चमत्कार के कारण, सच्चे गुरु जैसा प्रतिभासे, तो उसके धोखे में आकर उसमें श्रद्धा नहीं करनी चाहिये, और न उसके प्रति विनय रूप प्रवृत्ति करना चाहिये। सम्यक् दृष्टि को ज्ञान से भ्रष्ट होने के कारणों से सदैव खबरदार रहना ही उचित है। सारांश यह है कि सम्यक् दृष्टि भय से, आशा से, प्रेम से, लोभ से, किसी प्रकार भी कुदेव, कुगुरु और कुधर्म को प्रणाम तथा उनकी विनय नहीं करता। इसी का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नाम अमूढ दृष्टित्व अंग है।

धर्मोऽभिवर्द्धनीयः सदात्मनो मार्दवादि भावनया।
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम्॥२७॥

उपबृंहण का अर्थ है बढ़ाना, अपनी आत्मा के धर्म बढ़ाने, तथा अपनी आत्मिक शक्ति के बढ़ाने और उसके प्रकाश करने का नाम उपबृंहण है उत्तम क्षमा, मार्दवादि भावों द्वारा आत्मा के शुद्ध स्वभाव का बढ़ाना सम्यक् दृष्टि का परम कर्तव्य है। इसी अंग को उपगूहन अंग भी कहते हैं, उपगूहन का अर्थ है ढांकना। पराये दोषों को ढांकना उपगूहन अंग हैं, दूसरे के दोष प्रगट करने से उसकी आत्मा को बड़ा संताप तथा क्लेश होता है, उससे हिंसा होती है। सम्यक् दृष्टि दूसरों के दोषों को प्रगट नहीं करता।

कामक्रोधमदादिषु चलयितुमुदितेषु
वर्त्मनोन्यायात्॥
श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्या
स्थितिकरणमपि कार्यम्॥२८॥

धर्म से जो पतित हो चुका है, या जो भ्रष्ट होने वाला है, उसे जैसे तैसे करके धर्म में दृढ़ करने को स्थिति-करण कहते हैं। काम, क्रोध, मद, लोभादिक कषाय भावों के निमित्त से यदि अपने परिणाम भ्रष्ट होते हों तो अपने को, और यदि दूसरों के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भ्रष्ट होते हों तो दूसरों को युक्ति पूर्वक, जैसे बने, तैसे धर्म में दृढ़ करना, सम्यक् दृष्टि का परम कर्तव्य है। और यही वास्तविक स्थिति करण है।

"सम्यक् दृष्टि स्वोपकार पूर्वक ही परोपकार किया करता है, और यही ठीक है। वह बिना किसी प्रकार की इच्छा रखते हुए, धार्मिक बुद्धि से ही परोकार किया करता है, क्योंकि जो परोपकार, लोभ कषाय वश, अथवा मान प्रतिष्ठा की चाह से किया जाता है, वह अनुग्रह अवश्य है, परन्तु वह सत अनुग्रह नहीं कहा जा सकता, निःस्पृह वृत्तियों का ही अनुग्रह प्रशंसनीय कहा जा सकता है। सच्चा अनुग्रह यह ही है, कि जो पद से भ्रष्ट हो चुके हों, उन्हें उसी पद में फिर स्थापन कर दिया जावे। धर्म का आदेश और धर्म का उपदेश देकर ही दूसरों पर अनुग्रह करना उचित है, अपने व्रतों में किसी प्रकार की बाधा न पहुंचा कर दूसरों के रक्षण में तत्पर रहना उचित है। सबसे प्रथम आत्महित करना चाहिये, अपना आत्महित करते हुए जो परहित करने में समर्थ हैं, उन्हें परहित अवश्य ही करना चाहिये। आत्महित ही मुख्य कर्तव्य है उसको न भूलना चाहिये। आचार्य यद्यपि मुनियों का हित करते हैं, उन्हें मोक्ष मार्ग पर लगाते हैं, तथापि उस अवस्था में रह कर वह उच्च-ध्येय को प्राप्त नहीं कर सकते। जिस समय वे उच्च-ध्येय मुक्ति को प्राप्त करना चाहते हैं, वह आचार्य पद का त्यागकर स्वात्म भावनामात्र, साधुपद में आ जाते हैं। इसलिये यह ठीक है कि आत्महित ही मुख्य कर्तव्य है। यहां कोई कहे कि आत्महित, परोपकार के मुकाबले में स्वार्थ है, उत्तर यह है—आत्महित स्वार्थ में शामिल नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है, जो प्रयत्न संसारिक वासनाओं की पूर्ति के लिये किया जाता है, वही स्वार्थ कहलाता है। कारण यही है कि स्वार्थ उसे ही कह सकते हैं, जो प्रमाद विशिष्ट हैं। आत्माहित करने वाला प्रमाद विशिष्ट नहीं है, इसलिये उसे स्वार्थ कहना भूल है। इससे कोई यह न समझे कि परोपकार का निषेध किया जाता है। परोपकार का करना तो महापुण्य बन्ध का कारण है; परन्तु जो लोग परोपकार करते हुए स्वयं भ्रष्ट हो जाते हैं, अथवा आत्महित को स्वार्थ बताते हैं, वे अवश्य आत्महित से कोसों दूर हैं। आचार्यों ने परोपकार को भी स्वार्थ साधन ही बतलाया है। यहां पर फिर यह प्रश्न होता है, कि कहीं अवसर आने पर परोपकारार्थ स्वयं भ्रष्ट भी होना पड़ता है, जैसे विष्णुकुमार मुनि ने सात सौ मुनियों की रक्षा के निमित्त अपने पद को छोड़ ही दिया। यह शंका ठीक है, कही पर विशेष हानि देखकर ऐसा भी किया जाता है। परन्तु आत्महित को गौण कहीं नहीं समझा जाता है, विष्णुकुमार स्वामी ने यद्यपि ऐसा किया, तथापि फिर उन्होंने शीघ्र ही प्रायश्चित लेकर स्वपद को ग्रहण कर लिया।" (पंचाध्यायी गाथा ८०३-८०५ भाषा टीका) इससे सिद्ध होता है कि आत्महित करना ही जीव का परम कर्तव्य है, परोपकार अवश्य करना चाहिये, परन्तु परोपकार के समय निज पद को भूलना उचित नहीं है। स्वामी समन्त भद्राचार्य अथवा स्वामी विष्णुकुमार के सदृश यदि किसी अनिवार्य कारणवश किसी समय परोपकार निमित्त भ्रष्ट होना भी पड़ जावे, तो कार्य सफल होने के बाद, प्रायश्चित पूर्वक निज पद को अवश्य ही ग्रहण कर लेना चाहिये, सारांश यह कि परोपकार करते समय; आत्मिक कल्याण को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कभी विसारना नहीं चाहिये। जो परोपकार स्वधर्म स्थिरता तथा चरित्र दृढ़ता पूर्वक होता है; वह स्वोपकार में भी पूर्णतया सहायक होता है।

अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मी निबन्धने धर्मे।
सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमंवात्सल्यमालम्ब्यम् ॥२६

गौ बच्छे की सी प्रीति करने को वात्सल्य कहते हैं। जैसे गौ बच्छे के प्रेम से खिंच कर अपने प्राणों का नाश होने का भय होने पर भी सिंह के सन्मुख चली जाती है, और ऐसा विचार करती है, कि मेरे भक्षण करने से यदि बच्छे का भला हो जावे तो अच्छा है। ठीक उसी प्रकार सम्यक् दृष्टि धर्म तथा धर्मात्माओं में ऐसी ही परम प्रीति रखता है, और तन, मन, धन आदिक अपना सर्वस्व अर्पण कर के वात्सल्य का पालन करता है। जब तक वह अपनी सामर्थ्य देखता है, वह धर्म तथा धर्मात्माओं पर आई हुई किसी बाधा को भी सहन नहीं कर सकता है। हर प्रकार से जैसे भी बन सकता है, वह उन की बाधा उपसर्ग को दूर करने का भरसक प्रयत्न करता है। यह परात्म संबन्धी वात्साल्य है। परीषह और उपसर्गादि से पीड़ित होने पर भी अपने श्रेष्ठ आचरण में, ज्ञान में, ध्यान में शिथिलता नहीं आने देने का नाम स्वात्म वात्सल्य है।

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दानतपो जिनपूजा विद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥३०॥

धार्मिक कार्यों में उन्नति करने का नाम प्रभावना है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपनी आत्मा तथा जिन धर्म के अतिशय को प्रगट करने को भी प्रभावना कहते हैं। प्रभावना दो प्रकार की होती है। (१) स्वात्म प्रभावना (२) परात्म प्रभावना (वाह्य प्रभावना) इन में स्वात्म प्रभावना सर्वोत्तम और उपादेय है, दूसरी भी ग्रहण करने योग्य है। अपनी आत्मा का अतिशय तो रत्नत्रय धर्म के प्रताप के बढ़ाने से प्रगट होता है। रत्नत्रय धर्म के पालन करने से आत्मा नित प्रति अधिक अधिक शुद्ध होता चला जाता है। अन्त में कर्म रूपी शत्रु का नाश कर, परम शुद्धता को प्राप्त कर लेता है। यह ही वास्तविक स्वात्म प्रभावना है। जिन धर्म का अतिशय आहार दान, औषधि दान अभय दान, देने से घोर तपश्चरण करने से, भगवत् का बड़े हर्ष तथा उत्साह पूर्वक पूजन अभिषेक आदि करने से, धर्म तत्व प्रचार करने से बढ़ता है। इस प्रकार जैनधर्म के अतिशय के बढ़ाने को वाह्य प्रभावना कहते हैं। श्री समन्त-भद्राचार्य ने कहा है—

अज्ञानतिमिर व्याप्तिमपाकृत्ययथायथम्।
जिनशासनमाहात्म्य प्रकाशः स्यात्प्रभावना॥

अर्थात् जगत् के जीवों का अज्ञान अन्धकार जिस प्रकार हो सके दूर कर के, उन में जिन शासन के माहात्म्य का प्रकाश करना अर्थात् उन को सम्यक् ज्ञानी बनाना सच्ची प्रभावना है।

सम्यक दृष्टि इन आठों अङ्गों का पालन करता है। सम्यक् दृष्टि २५ दोषों से सर्वथा रहित होता है। उपर्युक्त आठ गुणों के उल्टे रूप शङ्कादि आठ दोष हैं, जो २५ दोषों में गर्भित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। सम्यक् दृष्टि के नीचे लिखे आठ प्रकार के मद भी नहीं होते। १ कुलमद (पिता के पक्ष का मद)। जाति मद (माता के पक्ष का मद)। ३ रूप मद। ४ ज्ञान मद। ५ धन मद। ६ वल मद। ७ तप मद। ८ प्रभुता मद, अर्थात् ऐश्वर्य मद। ये आठ प्रकार के मद सम्यक्त्त को मलीन करते हैं। छह अनायतन खोटे गुरु, खोटे देव, खोटे धर्म और इन तीनों के सेवक यह छह आयतन नहीं हैं। इन की प्रशंसा नहीं करनी चाहिये, और न इन की संगति करनी चाहिये। यदि प्रशंसा करे तो यह ही छह दोष हो जाते हैं। तीन मूढ़ता हैं—देव मूढ़ता, गुरु मूढ़ता, लोक मूढ़ता। देव मूढ़ता—वीतरागी, सर्वज्ञ, हितोपदेशी देव को छोड़ कर रागीद्वेषी पाखंडी देव को नस्कार करना। गुरु मूढ़ता—निर्ग्रन्थ गुरु को छोड़ कर पाखंडी वेषधारी, इन्द्रिय विषय लम्पटी, धूर्त गुरुओं को नमस्कार करना। लोक मूढ़ता—खोटे शास्त्र और खोटे धर्म को नमस्कार करना, और खोटी क्रियाओं को जो धर्म नहीं हैं, उनको धर्म मान लेना, जैसे—दशहरे पर दवात क़लम पूजना दिवाली पर रुपया पैसा आदि का पूजन करना आदि। सम्यक् दृष्टि इन उपर्यक्त शङ्कादिक ८ दोष, ८ मद, ६ अनायतन, और ३ मूढ़ता, कुल २५ दोषों को दूर कर अष्टाङ्ग सम्यक् दर्शन को ही ग्रहण करता है। सम्यक् दृष्टि में प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य जो सम्यक्त्त के बाह्य लक्षण हैं, अवश्य ही पाये जाते हैं। प्रशम शान्त भाव को, संवेग संसार शरीर भोगों से उदासीनता को, अनुकम्पा दया को, और आस्तिक्य, धर्म तथा तत्वों की दृढ़ श्रद्धा को कहते हैं।

आगे सम्यक् दर्शन के ५ अतिचार बताते हैं- परन्तु उनका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वर्णन करने से पहले यह बता देना ज़रूरी है कि अतिचार कहते किसे हैं। अतिक्रम—मन की शुद्धि में क्षति होना, मन में विकार भाव होना अतिक्रम है। व्यतिक्रम-शील वृत्ति का अर्थात् व्रतचर्या का उल्लंघन करना व्यतिक्रम है। अर्थात् विषयों की अभिलाषा से प्रेरित होकर व्रत के खण्डन का भाव मात्र होना व्यतिक्रम है। अतिचार—व्रतों की ओट रखते हुए, चारित्र में आलस्य अर्थात् शिथिलता होने को अतिचार कहते हैं, अर्थात् कारण वश मन में ग्लानि रखते हुए किसी व्रत के प्रतिकूल किसी अंश में प्रवृत्ति कर लेना अतिचार है। अनाचार—सर्वथा व्रत भङ्ग कर देने को अर्थात् व्रत के तोड़ देने को अनाचार कहते हैं। मन, वचन, काय, तीनों से व्रत भंग का नाम अनाचार है। उक्तंचः—

"अतिक्रमो मानस शुद्ध हानिर्व्यतिक्रमो यो विषयाभिलाषः।
तथातिचारः करणालसत्वं भंगोह्यनाचार इह व्रतानाम्॥"

सम्यक् दर्शन के ५ अतिचार

शंका तथैवकांक्षा विचिकित्सा संस्तवोऽन्यदृष्टानाम्
मनसा च तत्प्रशंसा सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥१८२॥

१ शङ्का—जिनेन्द्र प्रणीत तत्वों में संशय करना २ कांक्षा—इस लोक, परलोक सम्बन्धी भोगों की वाञ्छा करनी। ३ विचिकित्सा—अनिष्ट तथा दुर्गन्धित वस्तुओं को तथा दुःखी, अनाथ, रोगी प्राणियों को देख कर उन से ग्लानि करना। ४ अन्य दृष्टि संस्तव—मिथ्या दृष्टि पाखंडियों की तथा उन के मिथ्या धर्म की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्तुति करनी। ५ अन्य दृष्टि प्रशंसा—अपने मन द्वारा मिथ्या दृष्टि पाखण्डियों की, मिथ्यात्व क्रियाओं की सराहना करना या उनकी मिथ्यात्व क्रियाओं को अच्छा जानना ।

पहले सम्यक् दर्शन के आठ दोषों का वर्णन कर चुके हैं, यहाँ प्रश्न होता हैं कि पाँच अतिचार क्यों कहे ? आठ क्यों न कहे ? विचार पूर्वक देखने पर मालूम होगा, कि बाक़ी के सब दोष इन ही पांचों में गर्भित हो जाते हैं।

सम्यक् दर्शन का पालन २५ दोष बचा कर, पाँचों अतिचार रहित, निर्मलता से करना चाहिये। सम्यक् दर्शन धर्मरूपी वृक्ष की जड़ है, मोक्ष महल की पहली सीढ़ी है। इस के बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक्पने को प्राप्त नहीं होते। इस लिये, भव्य जीवों को उचित है, कि जिस प्रकार बने सात तत्वों के वास्तविक स्वरूप को समझ कर सम्यक् दर्शन रूपी रत्न से अपने आत्मा को भूषित करें।

सम्यक् ज्ञान

इत्याश्रित सम्यक्त्वैः सम्यग्ज्ञानं निरुप्य यत्नेन।
आम्नाययुक्तियोगैः समुपास्यं नित्यमात्महितैः ॥३१

पदार्थों का जो स्वरूप जिनागम की परंपरा से मिले, उसे प्रमाण नय पूर्वक अपने उपयोग में निश्चित कर, यथावत् जानना ही सम्यक् ज्ञान की वास्तविक सेवा है। आगे प्रमाण नय का संक्षेप वर्णन करते हैं। सम्यक् ज्ञान को ही प्रमाण कहते हैं। पदार्थ के सामान्य तथा विशेष दोनों अंशों का एक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साथ विषय करने वाला प्रमाण ज्ञान है, संसार में जितने भी पदार्थ पाये जाते हैं, उन सबमें सामान्य धर्म और विशेष धर्म दोनों पाये जाते हैं, अर्थात् एक वस्तु सामान्य और विशेष रूपहै। जैसे एक बाग में पचासवृक्ष कई प्रकार के हैं, उनमें वृक्षपना सब में सामान्य है, किन्तु हर एक वृक्ष का आकार, स्वरूप भिन्न भिन्न है यह विशेष है। अस्तिपना सब द्रव्यों में व्यापक है, उसी में विशेष अस्तित्व जानना, कि यह अमुक है, यह अमुक है, विशेष है। सामान्य और विशेष में यही अन्तर है, कि सामान्य ज्यादह वस्तुओं में रहता है, और विशेष बहुत वस्तुओं में न रह कर ख़ास ख़ास वस्तुओं में जुदा जुदा रहता है। प्रमाण वस्तु के सब धर्मों का विषय करता है, इसके मुख्य भेद दो हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। जिस ज्ञान में इन्द्रिय और मन की सहायता न लेनी पड़े वह प्रत्यक्ष है। और जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता लेवे वह परोक्ष है।

प्रत्यक्ष प्रमाण के भी दो भेद हैं—१ पारमार्थिक प्रत्यक्ष और २ सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष। जो ज्ञान केवल आत्मा ही के आधीन रह कर अर्थात् जो इन्द्रियों की सहायता के बिना, जितना अपना विषय है, उसको विशुद्धता पूर्वक स्पष्ट जाने, वह पारमार्थिक प्रत्यक्ष है। और जो नेत्रादिक इन्द्रियों से वर्णादिकों को साक्षात् ग्रहण काल में जाने, वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। यह वास्तव में परोक्ष प्रमाण ही है। पारमार्थिक प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—१ देश पारमार्थिक और २ सर्व देश पारमार्थिक। अवधि ज्ञान और मन पर्य्यय ज्ञान तो एक देश पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं, और केवल ज्ञान सर्व-देश पारमार्थिक प्रत्यक्ष है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक देश प्रत्यक्ष ज्ञान तो अवधि ज्ञानावरण कर्म अथवा मन पर्य्यय ज्ञानावरण के क्षयोपशम से होता है और सर्व प्रत्यक्ष अर्थात् केवल ज्ञान, जो स्वाभाविक ज्ञान है, केवल ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से प्रगट होता है। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष—यह ज्ञान व्यवहार दृष्टि से ही प्रत्यक्ष कह दिया गया है, परमार्थ दृष्टि से तो परोक्ष ही है, क्योंकि इसके द्वारा स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। जैसे आंख से किसी वस्तु के देखते ही ज्ञान हुआ कि यह वस्तु सफेद है। उस वस्तु में मलिनता का भी मिलाप है, जो साफ साफ नहीं मालूम हो सका कि कितने अंश सफेदी है और कितने अंश मलिनता है। इसलिये यह व्यवहार मात्र प्रत्यक्ष है। वास्तव में आचार्य इसे परोक्ष ही कहते हैं क्योंकि यह इन्द्रियों से होता है।

परोक्ष प्रमाण—मतिज्ञान और श्रुत ज्ञान द्वारा जो जाना जाता है, वह सब परोक्ष प्रमाण कहलाता है। पांचों इन्द्रियों तथा मन इन छहों में से किसी एक इन्द्रिय द्वारा एक समय में किसी पदार्थ का सीधा जानना मति ज्ञान है, जैसे स्पर्शन से शीत, उष्ण, चिकने, रूखे, नर्म, कठोर, हलके, भारी पदार्थ को जानना; रसना से खट्टे, मीठे, तीखे, चरपरे व कषायले पदार्थ को; घ्राण से सुगन्ध दुर्गन्ध को; चक्षु से सफेद, लाल, काले, नीले, पीले, पदार्थ को; कान से नाना प्रकार के शब्दों को सीधा जानना; व मन द्वारा एकाएक किसी पदार्थ को जान लेना मति ज्ञान है। मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ के सम्बन्ध से दूसरे पदार्थ को या विषय को जानना श्रुतज्ञान है। जैसे किसी को कुल्हाड़ी का स्पर्श हुआ, तब कठोरता का ज्ञान मति ज्ञान है, पश्चात् उससे दुःख अनुभव करना श्रुत ज्ञान है। यह अनक्षरात्मक श्रुत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञान है। कर्ण द्वारा शब्द सुन कर उसके अर्थ को समझना अक्षरात्मक श्रुत ज्ञान है। यह सैनी पंचेन्द्रिय के ही होता है, जैसे जीव शब्द सुन कर जीव द्रव्य का ज्ञान कर लेना। अनक्षरात्मक श्रुत ज्ञान सब जीवों के होता है।

परोक्ष प्रमाण के पांच भेद हैं—१ स्मृति, २ प्रत्यभिज्ञान, ३ तर्क, ४ अनुमान और ५ आगम। स्मृति—जो जो पदार्थ पहले जाना था, बाद में किसी समय में उसे मात्र स्मरण करना अर्थात् याद करना। इसे स्मृति कहते हैं जैसे किसी पुरुष को पहले देखा था, उसे फिर याद किया। प्रत्यभिज्ञान—जिस किसी पदार्थ को पहले स्पर्शा, चाखा, सूंघा, देखा व सुना था उसी को फिर स्पर्श करके, चाख करके, सूंघ करके, देख करके, सुन करके, यह निश्चय करना कि यह तो वही पदार्थ है, जिसे पहले स्पर्शा, चाखा, सूंघा, देखा सुना था। जैसे पहले किसी ने सुना था कि "गवय" जानवर गाय जैसा होता है, फिर कभी वह बन में गया और उसने उस "गवय" जानवर को देखा, तो जान लिया कि जिस गाय जैसे जानवर "गवय" की बाबत पहले सुना था, यह वही है। इस प्रकार के ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। ३ तर्क-व्याप्ति ज्ञान को तर्क कहते हैं। "होने पर होना, न होने पर न होना" अर्थात् एक के बिना एक न हो, इसे व्याप्ति कहते हैं—जैसे अग्नि बिना धुआं नहीं रहता। आत्मा के बिना चेतनता नहीं रहती। इसी व्याप्ति के जानने को तर्क कहते हैं। ४ अनुमान—किसी चिन्ह से पदार्थ के खास स्थान पर होने का निश्चय कर लेने को अनुमान कहते हैं—जैसे किसी पर्वत के ऊपर धूंवें को देख कर यह निश्चय करना कि पर्वत पर अग्नि है। ५ आगम—आप्त वचनों के निमित्त से पदार्थ के निश्चय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करने को आगम कहते हैं, जैसे शास्त्रों से लोकादि का जानना। प्रमाण के भेद इस प्रकार हैं:—

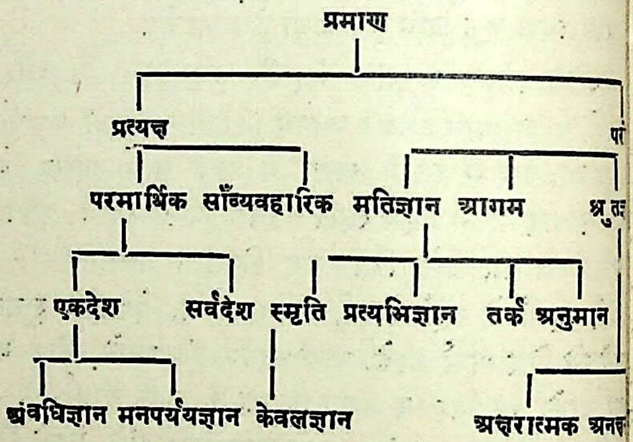

प्रमाण के अंश को नय कहते हैं। प्रमाण द्वारा जो ग्रहण किया था, उसके एक एक धर्म को मुख्यता से जो अ कराता है, वह नय कहलाता है। नय के दो भेद हैं— द्रव्या और पर्यायार्थिकनय।

द्रव्यार्थिकनय—जो द्रव्य की मुख्यता से पदार्थ का कराती है। अर्थात् केवल द्रव्य ही मुख्यता से जिस न विषय है, वह द्रव्यार्थिकनय कहलाती है—जैसे संसारी सिद्ध भगवान् के समान शुद्ध आत्मा है" ऐसा कहन द्रव्यार्थिक नय का विषय है। द्रव्य नित्य है, द्रव्य सत् है अभेद है, यह सब द्रव्यार्थिक नय के ही विषय हैं।

इस द्रव्यार्थिक नय के ३ भेद हैं। नैगम, संग्रह और व्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नैगम—संकल्पमात्र से ग्रहण करने को नैगम कहते हैं; जो संकल्पमात्र किसी पदार्थ को बतावे वह नैगम नय है। जितने द्रव्य हैं, वे अपनी भूत भविष्यत्, वर्तमान पर्यायों से अन्वयरूप अर्थात् जोड़ रूप हैं। अपनी किसी भी पर्याय से कोई पदार्थ भिन्न नहीं है। सो भूत पर्यायों का तथा भविष्य पर्यायों का वर्तमान काल में संकल्प करना—ऐसे ज्ञान को तथा वचन को नैगम नय कहते हैं। जैसे कोई पुरुष मेज़ बनाने को लकड़ी लाने के लिये जा रहा था, उससे किसी ने पूछा कहां जा रहे हो ? उसने कहा मेज़ के लिये जा रहा हूं। अब जहां वह जा रहा है, वहां उसको मेज़ नहीं मिलेगी, लकड़ी ही मिलेगी; मेज़ तो अभी तय्यार भी नहीं हुई। वह केवल मात्र लकड़ी लाने के लिये ही जा रहा है; परन्तु यह उसके विचार में जरूर है कि लकड़ी लाकर मेज़ बनावे। नैगम नय से वह यह कह सकता है कि मेज़ के लिये जा रहा हूँ। दीवाली के दिन यह कहना कि श्री महावीर प्रभु आज मोक्ष पधारे हैं, यह भूत नैगम नय का उदाहरण है। बालावस्था में ही तीर्थंकर प्रभु को कहना कि आप तारणतरण हैं; तारण तरण तो अरहन्त अवस्था में होंगे, इस समय तो नहीं परन्तु भावि नैगम नय से कह सकते हैं। यह भावि नैगम नय का उदाहरण है। संग्रहनय—जो एक वस्तु की समस्त जाति को व उसकी समस्त पर्यायों को संग्रहरूप करके एक स्वरूप कहे, उसको संग्रह नय कहते हैं। जैसे "घट" कहने से सब घटों को समझना। "द्रव्य" मात्र कह देने से जीव अजीवादिक सब ही छहों द्रव्यों को जान लेना। और भी जैसे "गाय दूध देती है" इससे यह जान लेना कि सब ही गायें दूध देती हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यवहार नय—सामान्य रूप से कहे हुए पदार्थ विधि पूर्वक भेदानुभेद कर विशेष रूप कहना, व्यवहार नय है। व्यवहार नय का विषय, संग्रह नय द्वारा ग्रहण किए हुए पदार्थ को भेद रूप जानना है। व्यवहार नय से ही यह जाना जाता कि द्रव्य अनन्त गुणों तथा पर्यायों का समुदाय है। पदार्थों स्वरूप समझने के लिये व्यवहार नय का ज्ञान आवश्यक है। उदाहरण—केवल मात्र "द्रव्य" कह देने से द्रव्यों का सामान्य रूप से ही ज्ञान होता है, परन्तु जब यह कहते हैं कि द्रव्य मुख्य दो भेद हैं जीव और अजीव। जीव दो प्रकार के होते संसारी और मुक्त। संसारी जीवों के भी और भेदानुभेद का कहना। इसी प्रकार यह कहना कि अजीव पांच प्रकार है, पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश और काल। फिर आगे इनका और विशेष कथन करना यह सब व्यवहार नय का विषय है।

२—पर्यायार्थिक नय—जो नय द्रव्य दृष्टि से स्व को गौण कर, पर्याय की ही मुख्यता से पदार्थ का ज्ञान करे उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं। जैसे यह कहना कि क्रोध क्षणिक है, ज्ञान आत्मा का एक गुण है। पर्यायार्थिक नय ४ भेद हैं, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत। **ऋजुसूत्र नय**— जो नय भूत, भविष्यत् पर्यायों को छोड़ कर वर्तमान पर्याय को ही ग्रहण करती है, उसे ऋजुसूत्र नय कहते हैं। नय वर्तमान समय मात्र की पर्याय को ही ग्रहण करती है जैसे देव को देव कहना, मनुष्य को मनुष्य कहना। यह पर्याय का उदाहरण है। सूक्ष्म समयवर्ती पर्याय का कथन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वाणी से असंभव है, क्योंकि हम जब कहने लगेंगे तब उसमें बहुत से समय बीत जावेंगे, और तब तक हम जिस वर्तमान अवस्था को कहेंगे वह उस समय में भूतकालीन हो जावेगी। **शब्द नय**——व्याकरण आदि मत से शब्द की अशुद्धताई के दूर करने को शब्द नय कहते हैं। अर्थात् जो नय व्याकरण सम्बन्धी लिङ्ग, संख्या, साधन, काल आदिक के दोषों को दूर करके जाने वा कहे; उसे शब्द कहते हैं—जैसे नक्षत्रम् पदार्थ के लिये संस्कृत व्याकरण में तीन शब्द हैं—पुष्य (पुल्लिङ्ग) तारका (स्त्रीलिङ्ग) नक्षत्रम् (नपु० लिङ्ग)। इन तीनों शब्दों के लिङ्ग भिन्न भिन्न हैं। एक पदार्थ के लिये तीन विरोधी लिङ्गों का व्यवहार विरोध रूप या दोष रूप नहीं गिना जावेगा। इसी प्रकार संख्या आदि के सम्बन्ध में भी जानना। **समभिरूढ नय**—— वह है जिसके द्वारा एक शब्द के अनेक अर्थ होने पर भी उस शब्द को एक ही अर्थ के प्रतिपादन में मान लिया जावे, एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, उनको उल्लंघन करके एक ही अर्थ को मुख्यता से ग्रहण करना समभिरूढ नय का विषय है। जैसे "गौ" शब्द के अर्थ अनेक हैं; मूल धातु की अपेक्षा "गच्छतीति गौ" इस वाक्य के अनुसार जो चले वही गौ होती है, परन्तु समभिरूढ नय के प्रयोग से बैठ हुई, सूती हुई को भी गौ कहदेते हैं। **एवंभूत नय**——वर्तमान क्रिया जैसी हो उसी के अनुसार वैसा ही कहना, अर्थात् एवंभूत नय वह है जो उसी शब्द को उसी समय उस पदार्थ के लिये व्यवहार करेगी जब कि वह पदार्थ उस शब्द के अर्थ वाचक भाव में क्रिया या परिणमन कर रहा होगा। गो शब्द गौ के लिये समभिरूढ नय से प्रचलित है, परन्तु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'गौ शब्द के अर्थ चलने वाले के हैं। एवंभूत नय के अनुसार "गौ" तब ही कहेंगे जबकि वह चल रही होगी, बैठी सोई हुई दशा में उसको 'गौ' न कहेंगे। जैसे कोई आदमी पूजा कर रहा है, तो जिस समय वह वास्तव में पूजा कर रहा है उसी समय में उसको पुजारी कहना, अन्य समय में नहीं। इस प्रकार यह कुल सात नय हुईं। इनमें से नैगम नय, संग्रह नय, व्यवहार नय और ऋजुसूत्र नय तो अर्थ नय कहलाती हैं, और शब्द नय, समभिरूढ नय और एवंभूत नय शब्द नय कहलाती हैं।

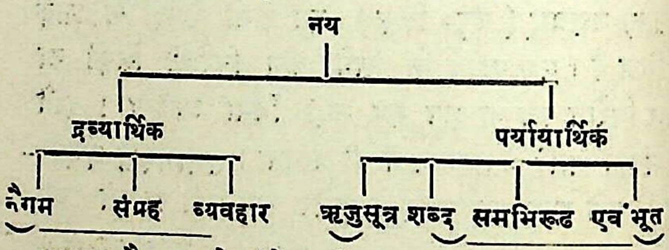

प्रमाण और नय के संयोग को "नय प्रमाणाभ्यां युक्तिः" के अनुसार युक्ति कहते हैं। यहां पर प्रमाण नय का थोड़ा सा वर्णन इस लिये किया गया है कि प्रमाण नय के बिना पदार्थ के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। "प्रमाण नयैरधिगमः" इस सूत्र के अनुसार पदार्थ का यथार्थ ज्ञान प्रमाण और नय से ही होता है।

प्रथगाराधनमिष्टं दर्शनसह भाविनोपि बोधस्य।
लक्षण भेदेन यतो नानात्वं संभवत्यनयोः ॥ ३२ ॥

सम्यक् ज्ञान सम्यक् दर्शन के साथ ही होता है, तथापि इसका जुदा आराधन करना ही कल्याणकारी है, जिस समय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्मा को सम्यक् दर्शन होता है, उस समय मतिज्ञान और तज्ञान तो अवश्य होता ही है, सम्यक् ज्ञान को विशेष कर ा आराधन करना इस कारण योग्य है, कि इन दोनों के हण भिन्न भिन्न हैं। सम्यक् दर्शन का लक्षण यथार्थ श्रद्धान और सम्यक् ज्ञान का लक्षण यथार्थ जानना है। इसलिये का जुदा जुदा आराधन करना कल्याणकारी कहा गया है।

सम्यक्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात् ॥ ३३ ॥

जिनेन्द्र देव ने सम्यक् ज्ञान को तो कार्य कहा है, और ्यक् दर्शन को कारण, इस लिये सम्यक् दर्शन के बाद ही ्यक् ज्ञान का आराधन करना योग्य है। यद्यपि मति ज्ञान र श्रुत ज्ञान पहले पदार्थों को जानते थे, परन्तु बिना सम्यक्त्व उनकी संज्ञा कुमति और कुश्रुति ही थी। यद्यपि सम्यक् दर्शन र सम्यक् ज्ञान एक ही समय में होते हैं, तो भी इनमें कार्य रण का भेद है, जैसे—

कारणकार्यविधानं समकालं जायमानयोरपि हि।
दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोःसुघटम् ॥ ३४ ॥

दीप का जलना और उसका प्रकाश एक ही समय में प्रगट ता है—जब तक दीपक जलता है तब तक ही उसका प्रकाश ता है। दीपक का जलना कारण है, और प्रकाश कार्य है; क इसी प्रकार यद्यपि सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान एक समय उत्पन्न होते हैं, तथापि सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान कारण है, और सम्यक् ज्ञान कार्य है सम्यक्त्व से ही ज्ञान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यक् ज्ञान कहलाता है।

कर्त्तव्योऽध्यवसायः सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु।
संशयविपर्ययानध्यवसायः विविक्तमात्मरूपंतत् ॥३५॥

पदार्थ के स्वरूप को यथार्थ जानना सम्यक् ज्ञान कहलाता है, और यह सम्यक् ज्ञान निश्चय नय से आत्म का निज स्वरूप है, यह सम्यक् ज्ञान स्व-पर प्रकाशक होता है और हमेशा, संशय विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित होता है।

संशय— विरुद्ध दो तर्फा ज्ञान होने को संशय कहते हैं– जैसे रात को किसी को देख कर यह संदेह करे कि यह मनुष्य है, या खम्भा है, या कुछ और है। सीप के टुकड़े को देखकर यह संदेह करना कि यह सीप है या चांदी, इस प्रकार के निर्णय रहित डाँवाडोल ज्ञान को संशय ज्ञान कहते हैं। विपर्यय– अन्यथा रूप एक तरफी ज्ञान को विपर्यय कहते हैं। जैसे मनुष्य को खम्भा जान लेना----सीप को सीप न समझ, उसके विपरीत चाँदी समझ लेना, यह विपर्यय ज्ञान है। अनध्यवसाय (विमोह) "कुछ है" केवल इतना ही जानपना होना और ज्यादह विचार न करना, यह अनध्यवसाय है, जैसे रास्ते में चलते चलते तिनके के स्पर्श हो जाने पर यह जानना "क्या लगा"? कुछ होगा। इस प्रकार विचार रहित ज्ञान अनध्यवसाय कहलाता है। ज्ञानकी सत्य, असत्य, उभय और अनुभय चार परिणति होती हैं सत्य सम्यक्ज्ञान है, असत्य विपर्यय ज्ञान है, उभय संशय ज्ञान है और अनुभय अनध्यवसाय है। इन्हीं तीनों भावों से रहित ज्ञान को सम्यक् ज्ञान कहते हैं। यहाँ प्रश्न होता है कि सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी के एकसा जानपना होने पर एक का ज्ञान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यक्ज्ञान और एक का मिथ्याज्ञान क्यों कहलाता है ? उत्तर— सम्यक्ती मूलभूत जीवादिक पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को जानने वाला होता है, इस वास्ते अन्य पदार्थ जो उस के जानने में आते हैं, वह उन सब का यथार्थ रूप ही श्रद्धान करता है; इस लिये उसका ज्ञान सम्यक्रूप है। मिथ्यात्वी को मूल पदार्थ की खबर नहीं होती, इस लिए जो पदार्थ उसके जानने में आते हैं, वह उन सबका अयथार्थ ही साधन करता है। इसी कारण उसका ज्ञान मिथ्यारूप होता है। मिथ्या दृष्टि का ज्ञान अनिश्चित होता है, सम्यक् दृष्टि के समान पदार्थों को जानते हुवे भी उस के ज्ञान में पदार्थों के वास्तविक स्वरूप के जानने में कमी रहती है। उसके ज्ञान में तीन विरोध होते हैं, कारण विपर्यय, भेदाभेद विपर्यय और स्वरूप विपर्यय। विरोध रूप होने के कारणही उसका ज्ञान मिथ्या-ज्ञान कहलाता है। कारण विपर्यय, भेदाभेद विपर्यय, स्वरूप विपर्यय, इन तीनों का स्वरूप यह है कि जगत में जो पदार्थों की अवस्था बदल रही है, उस में सच्चा कारण क्या है यह उस मिथ्या दृष्टि को प्रतीत नहीं होता है। वह कभी तो ऐसा मान लेता है कि रूपी जड़ पदार्थों का भी मूल कारण एक अमूर्तिक नित्य ब्रह्म है, कोई ऐसा मानते हैं कि पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु के परमाणु भी सब अलग अलग हैं, ऐसा नहीं कि ये चार अवस्था-एँ एक पुद्गल द्रव्य की हैं। चारों ही में समान स्पर्श रस गंध वर्ण नहीं है। कोई ऐसा मानते हैं कि यह संसारी जीव भी सब एक परमात्मा ही के अंश हैं। कोई कहते हैं, चेतन अपरिणामी हैं। ये क्रोध, मान माया लोभ आदि सब मात्र एक प्रकृति के वि-कार हैं, जीव के भाव नहीं हैं। इस प्रकार तो कारण विपर्यय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। भेदाभेद विपर्यय यह है—कि कारण से कार्य को सर्वथा अन्य मानना व सर्वथा अन्य नहीं मानना। वास्तव में उपादन रूप से कारण के समान ही कार्य होता है, इस से तो अभेद है, तथापि पर्याय के बदलने की अपेक्षा कारण से कार्य अन्य है। इस प्रकार भेद अभेद को न समझना, सो भेदाभेद विपर्यय है। स्वरूप विपर्यय यह है—कि रूपादिक को निर्विकल्प व ब्रह्मभाव रूप समझना व उनको मात्र ज्ञानरूप समझना इत्यादि।

मिथ्या दृष्टि अपने ज्ञान से वस्तु को ठीक जान करके भी उन से संसारिक बन्धरूप अभिप्राय की सिद्धि करता है। मोक्ष-रूप साध्य की सिद्धि नहीं करता है। इस लिये मिथ्या दृष्टि के तीनों ज्ञान मिथ्या या विपर्यय कहलाते हैं। आगे सम्यक् ज्ञान के अष्ट अंगों का वर्णन करते हैं।

ग्रन्थार्थोभयपूर्णं काले विनयेन सोपधानं च।
बहुमानेन समन्वितमनिन्हवं ज्ञानमाराध्यम् ॥३६॥

१ शब्दाचार—व्याकरण के अनुसार अक्षर पद मात्रादिक का शुद्धता पूर्वक पठन पाठन करने को शब्दाचार कहते हैं। २ अर्थाचार—केवल यथार्थ शुद्ध अर्थ मात्र के निश्चय करने को कहते हैं। ३ उभयाचार—शब्द और अर्थ दोनों के शुद्ध पठन पाठन और धारण करने को कहते हैं। ४ कालाचार—उत्तम योग्य काल में पठन पाठन कर ज्ञान के विचार करने को कालाचार कहते हैं। ५ विनयाचार—शुद्ध जल से हाथ, पाँव धोकर शुद्ध निर्मल स्थान में पद्मासन बैठ कर नमस्कार पूर्वक शास्त्रादिक के पढ़ने को कहते हैं। ६ उपधानाचार—धारणा सहित ज्ञान की आराधना करने को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहते हैं—जो कुछ पढ़ें उसे भूल न जावें, याद रक्खें। ७ बहुमानाचार—ज्ञान का, पुस्तक पोथी और पढ़ाने वाले का पूर्ण आदर करने को कहते हैं। ८ अनिन्हवाचार—जिस गुरु से या जिस शास्त्र से ज्ञान प्राप्त करे, उसके न छिपाने को कहते हैं।

इन आठों अङ्गों सहित ही सम्यक् ज्ञान अङ्गीकार करना योग्य है।

सम्यक् चरित्र

विगलितदर्शनमोहैः समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः।
नित्यमपि निःप्रकम्पैः सम्यक्चारित्रमालम्ब्यम् ॥३७॥

सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् दृढ़ चित्त पुरुषों को सम्यक् चरित्र की ही सेवा करनी योग्य है।

नहि सम्यग्व्यपदेशं चारित्रमज्ञानपूर्वकं लभते।
ज्ञानानन्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात् ॥३८॥

यदि पहले सम्यक् ज्ञान न हो, और पाप क्रियाओं को त्याग कर चारित्र भार को धारण किया जावे, तो वह चारित्र सम्यक् चारित्र नहीं कहलाता। जैसे बिना जानी औषधि के सेवन करने से मृत्यु होना भी सम्भव है, वैसे ही ज्ञान बिना चारित्र का सेवन करने से संसार की वृद्धि सम्भव है।

जीव बिना मुर्दा शरीर में इन्द्रियों के आकार किसी काम के नहीं, उसी प्रकार ज्ञान के बिना, शरीर का भेष, क्रिया काण्ड के साधन शुद्धोपयोग की प्राप्ति नहीं करा सकते, इसी लिए यह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जरूरी है कि भेद विज्ञान के पश्चात् ही विशेष चारित्र को ग्रहण किया जावे ।

चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात् ।
सकल कषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत् ॥३९॥

पापयुक्त मन, वचन काय के योगों के त्याग से, सम्पूर्ण कषायों से रहित, तथा निर्मल पर पदार्थों से विरक्तता रूप जो चारित्र होता है, वह आत्मा का निज स्वरूप होता है। समस्त कषायों का अभाव होजाने से यथाख्यात चारित्र होता है। सामायिक चारित्र में यद्यपि सकल चारित्री हुआ था, परन्तु संज्वलन कषाय के कारण मलीनता नहीं गई थी, इसलिए सकल कषायों से रहित होने पर ही यथाख्यात चारित्र नाम पाया अर्थात् चारित्र का जैसा स्वरूप था, वह प्रगट हो गया। प्रश्न—शुभोपयोग रूप भाव चारित्र है या नहीं ? उत्तरः—शुभोपयोग विशुद्ध परिणामों से होता है, और विशुद्धता मन्द कषाय को कहते हैं, इस लिए कषायों की हीनता के कारण कथंचित (थोड़ासा-देश) चारित्र कहलाता है; यदि वह शुद्धोपयोग की भावना सहित पाला जावे। प्रश्न—देव, शास्त्र, शील, तप संयमादिक में अत्यन्त रागरूप प्रवृत्ति करते हुवे मन्द कषाय कैसे कहे जा सकते हैं ? उत्तर—यह शुभ रागरूप प्रवृत्ति है, इस में विषय काषायादि राग की अपेक्षा मन्द कषाय ही हैं, क्योंकि इनके राग में क्रोध, मान, माया तो हैं ही नहीं, रहा प्रीति भाव की अपेक्षा लोभ कषाय सो वह भी संसारिक प्रयोजन युक्त नहीं है, इस लिए लोभ कषाय की भी मन्दता ही ठहरी। इसके सिवाय ज्ञानी जीव राग भावों से प्रेरा हुआ अशुभ राग को छोड़ शुभ राग में प्रवृत्ति करता है। कुछ शुभोपयोग को उपा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देयरूप श्रद्धान तो नहीं करता है। इस को तो वह अपने शुद्धोपयोग रूप चारित्र को मलिनता का कारण जानता है। अशुभोपयोग रूप कषायों की तीव्रता दूर हो जाने की अपेक्षा से ही इसे किसी प्रकार चारित्र कह सकते हैं, वास्तव में तो शुद्धोपयोग ही चारित्र है। चारित्र दो प्रकार का होता है—सकल चारित्र और देशचारित्र।

हिंसातोऽनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः।
कात्स्न्यैकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम् ॥४०॥

निरतः कात्स्न्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयम्।
यात्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति ॥४१॥

सकल चारित्र—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पाँच पापों के सर्वथा त्याग करने को सकल चारित्र कहते हैं। इस चारित्र का यथार्थतः पालन शुद्धोपयोग स्वरूप में आचरण करने वाले मुनि ही किया करते हैं। देशचारित्र—हिंसादि पाँच पापों के एकोदेश त्याग करने को देश चारित्र कहते हैं। इस चारित्र के उपासक श्रावक होते हैं।

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥४२॥

यदि वास्तव में देखा जावे तो यह पाँचों पाप हिंसा में ही गर्भित हैं, क्योंकि यह सब आत्मा के शुद्धोपयोग रूप परिणामों के घात का कारण हैं। इस वास्ते यह पाँचों पाप हिंसा के ही भेद हैं, यहाँ प्रश्न होता है कि यदि ये हिंसा के ही भेद हैं तो और भेद क्यों कहे ? उत्तर यही है कि झूठ, चोरी आदिक भेद केवल मात्र शिष्यों को समझाने के अर्थ उदाहरण के तौर पर ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहे गये हैं। अन्य पापों में भी आत्म परिणामों का घात है है इसलिये हिंसा उनमें भी दुर्निवार है। आगे अहिंसा स्वरूप बताते हैं।

—०—

अहिंसा

यत्खलु कषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा॥४३

निश्चय से कषायरूप परिणमन से, मन, वचन, काय के यो द्वारा अपने तथा पर के, भाव और द्रव्य रूप, दो प्रकार के प्रा का घात करना हिंसा कहलाता है। जब किसी पुरुष के मन या वचन में, या काय में क्रोधादिक कषाय प्रगट होते हैं, उसके अपने शुद्धोपयोग रूप भाव प्राणों का घात तो पहले हो जाता है। यह हिंसा अपने भाव प्राणों के घात से हुई— पहली हिंसा है। अन्य जीव की हिंसा होवे या न भी हो बाद में यदि कषाय की तीव्रता से, दीर्घ स्वासादिक से, अ हाथ पांव आदि से, वह अपने अंगों को पीड़ा उपजाता है, अपघात द्वारा अपने प्राणों का घात कर डालता है, तो उस अपने द्रव्य प्राणों के घात होने से, उसकी द्रव्य हिंसा होती है यह दूसरी हिंसा है। फिर यदि कषाय के वशीभूत होकर दूसरे किसी जीव से मर्म भेदी खोटे वचन कहता है, या उस हंसी उड़ाता है, या कोई और ऐसा कार्य करता है कि जिस उस दूसरे का अन्तरङ्ग पीड़ित होकर कषाय रूप परिणमन जाता है तो उस दूसरे के भाव प्राणों का घात होता है। द

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तीसरी हिंसा है। और फिर यदि कषाय और प्रमाद के वश हो कर वह उस दूसरे जीव के शरीर को पीड़ा पहुँचाता है, या उसके अङ्ग आदि छेद कर उसको प्राणान्त कर देता है, तो दूसरे के द्रव्य प्राणों का घात होता है। यह चौथी हिंसा है। इस तरह हिंसा के चार भेद हुए, १. स्वभाव हिंसा, २. स्वद्रव्य हिंसा, ३. परभाव हिंसा, ४. परद्रव्य हिंसा।

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥४४॥

जीव के अपने शुद्धोपयोग रूप प्रणों का घात रागादिक अर्थात (राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, शोक, जुगुप्सा, प्रमाद) भावों से होता है। इसलिये इन रागादिक भावों का अभाव ही भाव अहिंसा है। रागादिक समस्त विभाव भाव हिंसा के ही पर्याय हैं। इन विभाव भावों की आत्मा में उत्पत्ति होने का नाम ही भाव हिंसा है—जैन सिद्धान्त का यही रहस्य है। धर्म का लक्षण अहिंसा है। रागादिक विभाव भावों का अभाव अहिंसा कहलाता है। इसलिये जिस प्रकार भी बने, और जितना भी बने, रागादिक विभाव भावों का नाश करना ही धर्म है।

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि।
नहि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ॥४५॥

यहाँ कोई प्रश्न करे कि हिंसा का लक्षण पर जीव के प्राणों को पीड़ा पहुंचाना मात्र ही क्यों न किया? उत्तर यह है कि इस लक्षण में "अतिव्याप्ति" और "अव्याप्ति" दोनो दूषण आते हैं,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैसा कि आगे दिखाते हैं। यदि कोई महान् पुरुष ध्यान में बैठा हुआ है तथा सावधानता पूर्वक गमन आदि क्रियाओं को कर रहा है; कदाचित उस के शरीर सम्बन्ध से किसी जीव के प्राणों को पीड़ा पहुंच जाती है, तो भी उसको हिंसा का दोष नहीं लगता क्योंकि उसके परिणामों में कषाय तो था ही नहीं, उसके परिणामों में तो शान्त भाव या दया भाव है, हिंसक भाव नहीं है। यहां जीव के प्राणों को पीड़ा पहुंचाते हुवे भी हिंसा नहीं कहलाई। इस प्रकार प्राणोंको पीड़ा देना मात्र ही यदि हिंसा का लक्षण कहा जावे तो उस में अति व्याप्ति दूषण आता है।

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम्।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ॥४६॥

यदि कोई प्रमादी जीव कषायों के वशीभूत होकर गमनादि क्रिया यत्न पूर्वक नहीं करता है, और क्रोधादिक भाव रूप परिणमन करता है तो उस हालत में जीव मरें चाहे न मरें, वह तो कषाय भाव के कारण अवश्य ही हिंसा के दोष का भागी वन जाता है। यहाँ पर जीव के प्राणों को पीड़ा न होते हुए भी प्रमाद के सद्भाव से ही हिंसा हुई। इस प्रकार यदि "प्राणों को पीड़ा देना मात्र ही" हिंसा का लक्षण कहा जावे तो अव्याप्ति दूषण आता है।

यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम्
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु ॥४७॥

यहाँ फिर कोई प्रश्न करे कि "हिंसा" शब्द का अर्थ घात करना है। पर जीव के प्राणों के घात किये विना हिंसा कैसे हो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गई ? उत्तर—हिंसा शब्द का अर्थ तो घात करना ही है, परन्तु घात दो प्रकार का होता है। एक आत्म घात और दूसरा पर-घात। जिस समय आत्मा कषाय भाव रूप परिणमन करता है, तो उसी समय आत्मघात हो जाता है। बाद में अन्य जीव का, यदि आयु कर्म पूरा हो गया हो या उसके पाप का उदय आगया हो, तो उसका भी घात हो जाता है। अन्यथा यदि उसका आयु कर्म पूरा न हुआ हो, या उसके पाप कर्म का उदय ही न आया हो तो उसका कौन क्या कर सकता है? उसका घात तो उसके कर्म के आधिन है। इस (हिंसक) को तो इसके भाव कषाय रूप होते ही हिंसा का दोष लग गया।

हिंसायामविरमणं हिंसा परिणमनमपि भवति हिंसा।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम् ॥ ४८ ॥

परजीव के घातरूप हिंसा दो प्रकार की होती है—एक अवि-रमणरूप, दूसरी परिणामनरूप। अविरमणरूप हिंसा उसे कहते हैं, जो परजीव के घात में प्रवृत्ति न करते हुए भी हिंसात्याग प्रतिज्ञा बिना हुआ करती है। जिस पुरुष के हिंसा का त्याग नहीं, और वह किसी समय हिंसा में प्रवृत्ति भी नहीं करता परन्तु उसके अन्तरङ्ग में हिंसा करने का अस्तित्व भाव मौजूद है, इस लिये वह अविरमणरूप हिंसा का भागी होता है। जैसे किसी ने हरित काय (सब्जी) का त्याग नहीं किया, और वह किसी समय सब्जी खा भी नहीं रहा है, परन्तु उसके अन्तरङ्ग में उस हरित काय की हिंसा करने का अस्तित्व है। इसलिये वह अवि-रमणरूप हिंसा का भागी बनता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिणमनरूप हिंसा उसे कहते हैं जो जीव के स्व पर जीव के घात में, मन, बचन, काय से प्रवृत्त होने पर होती है। इन दोनों प्रकार की हिंसाओं में प्रमाद सहित योग का अस्तित्व पाया जाता है। प्रमाद योग में स्व व पर जीव की अपेक्षा प्राणघात का सद्भाव पाया जाता है। और इसका अभाव तब ही हो सकता है, जब कि जीव क्रोधादि भाव हिंसा का त्याग कर प्रमाद रूप परिणमन न करे। जब तक प्रमाद पाया जाता है, तब तक हिंसा का अभाव किसी प्रकार भी नहीं हो सकता। प्रश्न—यदि आत्मा के प्रमादरूप परिणामों से ही हिंसा होती है, तो वाह्य परिग्रहादि का त्याग क्यों कराया जाता है? उत्तर:—

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तु निबन्धना भवति पुंसः।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ॥४९॥

पहले बताया जा चुका है कि आत्मा में रागादिक कषाय भावों का होना ही हिंसा है। यह रागादिक भाव परिग्रहादिक के निमित्त से ही होते हैं; इसलिये परिणामों की निर्मलता के लिये हिंसा के ठिकाने, परिग्रहादिक का त्याग करना जारूरी है। जिस माता का सुभटपुत्र हो जाता है, उसी से कहा जाता है कि "तेरे पुत्र को मारूंगा।" और जिस स्त्री के पुत्र ही नहीं, उसके प्रति ऐसे परिणाम कैसे हो सकत हैं, कि मैं तेरे बांझ के पुत्र को मारूंगा। सारांश यह है कि वाह्य परिग्रहादिक के निमित्त से ही कषायरूप परिणाम होते हैं, यदि परिग्रहादिक का त्याग कर दिया जावे तो निमित्त के विना कषाय परिणाम कैसे हों? इसलिये यह जारूरी है कि अपने परिणामों की शुद्धता के लिये वाह्य कारण परिग्रहादिक का त्याग किया जावे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते ।
नाशयति करणचरणं स बहिः करणालसो बालः ॥५०॥

कोई कोई पुरुष, यथार्थ निश्चय के स्वरूप को न जानकर भी, केवल निश्चय के श्रद्धानी बन कर यह कहदिया करते हैं, कि हमारे अन्तरङ्ग परिणाम ठीक होने चाहिये। बाह्य परिग्रहादि रखने, या भ्रष्टाचार रूप प्रवृत्ति करने से हमारे में क्या दोष आ सकता है ? ऐसे पुरुष दया के आचरण को नष्ट करते हैं, वह नहीं समझते कि बाह्य के निमित्त से अन्तरङ्ग परिणाम भी, अवश्य अशुद्ध हो जाते हैं। बाह्य क्रिया की अपेक्षा से तो वे निर्दयी होते ही हैं, बाह्य का निमित्त पाकर जब उनके परिणाम भी अशुद्ध हो जाते हैं, तो वे अन्तरङ्ग की अपेक्षा भी निर्दयी हो जाते हैं। कोई जीव ऐसे होते हैं, जो निश्चयनय के स्वरूप को तो जानते नहीं, केवल व्यवहारमात्र बाह्य परिग्रहादि का त्याग कर, उपवासादि किया करते हैं। पर जीवों की दयारूप धर्म के ही साधन में धर्म मान बैठते हैं। परन्तु शुद्धोपयोग की प्राप्ति के लिये कोई उद्यम ही नहीं करते हैं, वे केवल व्यवहार मात्र एकान्त पक्ष को ग्रहण कर निजस्वरूपानुभवरूप शुद्धोपयोगमई परम अहिंसा धर्म को नष्ट कर डालते हैं। इसलिए जो अहिंसा धर्म के वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए अभिलाषी हैं, उन्हें एक ही पक्ष ग्रहण न करके निश्चय और व्यवहार दोनों ही अङ्गीकार करने चाहियें। आगे द्रव्यहिंसा तथा भावहिंसा की अपेक्षा से नाना प्रकार भंगों को दिखाते हैं।

अविधायापि हि सिंसा हिंसाफलभाजनं भवत्येकः ।
कृत्वाप्यपरो हिंसा हिंसाफलभाजनं न स्यात् ॥५१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिस जीव के परिणाम हिंसारूप होजाते हैं, चाहे वह हिं
का कोई कार्य न कर सके, तो भी वह जीव उदय काल में हिं
फल को भोगेगा। और जिस जीव के शरीर से किसी कारण
हिंसा तो हो गई, परन्तु परिणामों में प्रमाद भाव नहीं आया,
वह हिंसा के फल भोगने का पात्र न होगा।

एकस्याल्पाहिंसा ददाति काले फलमनल्पम् ।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके ॥५२॥

एक जीव थोड़ी हिंसा करने पर भी अपने तीव्र कषाय
परिणामों के कारण, उदय काल में हिंसा का बहुत फल पाता
दूसरा कारण वश बाह्य हिंसा बहुत करने पर भी, अपने भावों
उदासीनता और मन्द कषाय रूप परिणामों के कारण, उदय क
में हिंसा का फल थोड़ा ही पाता है।

एकस्य सैव तीव्रं दिशति फलं सैव मन्दमन्यस्य ।
व्रजति सहकारिणोरपि हिंसावैचित्र्यमत्र फलकाले ॥५३॥

यदि दो पुरुष मिलकर बाह्यहिंसा करते हैं, तो उनमें से जिस
परिणाम तीव्र कषायरूप होते हैं, उसे उदय काल में तीव्र
को भोगना पड़ेगा और जिसके मन्दकषाय रहते हैं, उसे उदयक
में मन्दफल भोगना पड़ेगा।

प्रागेव फलति हिंसा क्रियमाणा फलति २ च कृतापि
आरभ्यकर्तुमकृतापि फलति हिंसानुभावेन ॥५४॥

किसी जीव ने हिंसा का विचार तो कर लिया' परन्तु अव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न मिलने के कारण हिंसा न कर सका। अपने विचार से जो कर्म बन्ध किया, वह उदय में आगया। बाद में इच्छित हिंसा का अवसर मिलने पर वह भी कर डाली ऐसी हालत में हिंसा करने से पहले ही उसका फल भोग लिया जाता है। किसी ने हिंसा का विचार किया, इस विचार से जो कर्म बन्ध किया वह जिस समय उदय में आया, उसी समय वह इच्छित हिंसा को करने को भी समर्थ हो सका। इस हालत में हिंसा करते समय ही उस हिंसा का फल भोग लिया गया। किसी ने हिंसा करने का आरम्भ किया, परन्तु किसी कारणवश पीछे हिंसा को नहीं कर सका, प्रारम्भजनित कर्म बन्ध का फल उसे ज़रूर भोगना पड़ेगा। इस हालत में हिंसा न करने पर भी हिंसा का फल भोगना पड़ेगा। सारांश यह है कि कषाय भावों के अनुसार ही हिंसा का फल भोगना पड़ता है।

एकः करोति हिंसां भवन्ति फलभागिनो बहवः।
बहवो विदधाति हिंसां हिंसा फलभुग्भवत्येकः ॥५५॥

कहीं एक पुरुष हिंसा को करता है, परन्तु फल भोगने वाले बहुत होते हैं—जैसे कहीं कहीं दशहरे पर भैंसे को मारता तो अकेला चाण्डाल ही है; परन्तु अन्य सर्व देखने वाले जो "अच्छा अच्छा" कहते हैं, और प्रसन्न होते हैं, अपने अपने रुद्र परिणामों के कारण, हिंसा फल के भागी होते हैं। कहीं हिंसा करते तो बहुत पुरुष और हिंसा के फल का भोक्ता होता है एक ही पुरुष। जैसे सँग्राम में हिंसा तो बहुत से पुरुष करते हैं, परन्तु उनका स्वामी राजा उस सब हिंसा के फल का भागी होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेवफलकाले।
अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं विपुलम् ॥५६॥

किसी पुरुष को तो हिंसा उदय काल में एक ही हिंसा के फ… को देती है, और किसी पुरुष को वही हिंसा बहुत … अहिंसा के फल को देती है। जैसे किसी बन में मुनिराज ध… नस्थ अवस्था में तिष्ठते हैं। एक सिंह महाक्रूर परिणामी उन… भक्षण करना चाहता है, इतने में एक शूकर कोमल अहिंसा … परिणामों को लिये हुए सिंह से मुनिराज की रक्षा करना चाह… है। सिंह और शूकर दोनों परस्पर में लड़ लड़ कर मर जाते हैं… सिंह अपने क्रूर परिणामों के कारण हिंसा करते हुए नरक … जाता है। शूकर उसी हिंसा को करते हुए शुभ भावों के निमि… स्वर्ग में जाता है।

हिंसाफलमपरस्य तु ददात्यहिंसा तु परिणामे।
इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसा फलं नान्यत् ॥५७॥

किसी को अहिंसा उदय काल में हिंसाफल को देती है। अ… फल को नहीं। जैसे किसी के दिल में तो किसी दूसरे का बु… करने के परिणाम हैं; बाहर से वह उसके विश्वास के निमित्त भ… करता है। या यह कि बुरा करने का यतन तो कर रहा है पर… उस दूसरे जीव के पुण्य प्रभाव से उसका बुरे की जगह भ… हो जाता है; तो भी बुराई का यतन करने वाला अपने अन्तर… में हिंसामई परिणामों के कारण, बाहर से दया करते हुए… बुराई के ही फल का भोगी होता है। किसी के अन्तरँग में … दया भाव है, बाहर से वह किसी जीव को दुःखी देख, उ…

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दुःख निवारण के यत्न में लगता है। यत्न करते करते दुःखी को तत्काल पीड़ा होजाती है, या उस यत्न के निमित्त से ही उस दुःखी के प्राणान्त हो जाते हैं। यहां बाहरी हिंसा होते हुए भी अन्तरंग में अहिंसा मई परिणामों के कारण अहिंसा ही के फल की प्राप्ति होगी। जैसे कोई डाक्टर किसी रोगी को दुःखी देख कर उस पर करुणाभाव करता है, और यत्न पूर्वक उसका चीरफाड़ (ओपरेशन) कर उसके कष्ट को दूर करना चाहता है। चीर फाड़ करते करते यदि रोगी की पीड़ा बढ़ जाती है, या वह रोगी मर जाता है, तो डाक्टर को तो बाह्य में हिंसा होते हुए भी अन्तरंग में अहिंसा मई परिणाम होने के कारण, अहिंसा का ही फल मिलेगा।

इति विविधभङ्गगहने सुदुस्तरे मार्गमूढदृष्टीनाम्।
गुरवो भवन्ति शरणं प्रबुद्ध नयचक्रसञ्चाराः ॥५८॥

अत्यंतनिशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम्।
खण्डयतिधार्यमाणंमूर्धानंझटितिदुर्विदग्धानाम् ॥५९॥

हिंसा के अनेक भेदों को वे ही गुरु समझा सकते हैं, जो नय चक्र के ज्ञाता हैं। जैन धर्म के नय चक्र का समझना बड़ा कठिन है, जो बुद्धिमान विचार करते हैं, वे नय के (different Points of view) भेदोंको समझा सकते हैं। जो मूढ़ दृष्टि बिना समझे हुए हिंसा का स्वरूप मनमाना करते हैं, वे लाभ के बदले हानि उठाते हैं।

अवबुध्य हिंस्यहिंसक हिंसा हिंसाफलानि तत्वेन।
नित्यमवगूहमानैः निजशक्त्या त्यज्यतां हिंसा ॥६०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो पुरुष सदाकाल संवर पालन करने में उद्यमवान होते हैं, उन्हें चाहिए कि वे पहले यथार्थता से हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसाफल, इन चारों भावों को भली भाँति जान लेवें और फिर अपनी शक्ति अनुसार हिंसा का त्याग करें। हिंस्य, जिनकी हिंसा की जावे अपने और पर जीव के द्रव्यप्राण और भावप्राण, अथवा एकेन्द्रियादिक जीवसमास। हिंसक-हिंसा करने वाला जीव, हिंसा-हिंस्य के प्राण पीड़न की अथवा प्राण-घात की क्रिया हिंसाफल-हिंसा से प्राप्त होने वाले नर्क, निगोदादिक दुःखदायक फल।

मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन।
हिंसा व्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥६१॥

जो जीव हिंसा का त्याग करना चाहते हैं, उनको पहले यत्नाचार पूर्वक मद्य, माँस, मधु इन तीनों मकार ('म' से शुरु होने वाले) और ऊमर, कठूमर, पीपल, वड़, और पाकर इन पाँच फलों का त्याग करना चाहिए।

मद्यं मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मम्।
विस्मृतधर्मा जीवो हिंसामविशङ्कमाचरति ॥६२॥

मदिरा—यह बड़ी ही निंद्य वस्तु है, मन को मोहित कर देती है अर्थात् जीव को बेहोश बना देती है। मोहित चित्त धर्म को भूल जाता है, और धर्म भूला जीव, विना किसी डर के बेधड़क होकर हिंसा करने लग जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रसजानां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यम् ।
मद्यं भजतां तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यम् ॥६३॥

मदिरा अनेक जीवों की योनि होती है, मदिरा पान करने से, उन सब जीवों का निश्चय से ही नाश होजाता हैं, इसलिए मदिरा सेवन में निरन्तर हिंसा का होना जरूरी है ।

अभिमानभयजुगुप्सा हास्यरतिशोककामकोपाद्याः ।
हिंसायाः पर्य्यायाः सर्वेऽपि च सरकसन्निहिता ॥६४॥

मदिरा पान करने वाले के जो भाव उत्पन्न होते हैं, वे सब हिंसा की ही पर्याय हैं अर्थात् भेद है । अभिमान, भय, जुगुप्सा, हास्य, अरति, शोक, काम, क्रोध आदिक विभाव सर्व मदिरा के निकटवर्ती हैं । मदिरा का त्याग जीवहिंसा की दृष्टि से तथा मादकता की दृष्टि से, दोनों ही दृष्टि से करना भव्य आत्माओं के लिए अति आवश्यक है ।

न विना प्राणविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात् ।
मांसं भजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिता हिंसा ॥६५॥

मांस द्वीन्द्रियादि के शरीर में ही पाया जाता है । द्वीन्द्रियादिक जीवों के घात किए विना इसकी प्राप्ति नहीं हो सकती । इसलिये यह स्वयं सिद्ध है, कि मांसभक्षी को अनिवार्य हिंसा होती है । कोई कहे कि आपसे मरे हुए पशुओं का मांस भक्षण करने में हिंसा नहीं होती; तो उनका यह विचार सर्वथा गलत है; क्योंकि—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यदपि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः।
तत्रापि भवति हिंसातदाश्रितनिगोतनिर्मथनात् ॥६६॥

मरे हुए जीव के मांस में, जिस जीव का कि वह मांस है उसी जाति के निगोदरूप अनन्त जीव पैदा होते रहते हैं, इस लिए उस मांस के भक्षण में उन जीवों का घात होने से हिंसा होती है।

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम् ॥६७॥

आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीम्।
स निहन्ति सततनिचितं पिण्डं बहुजीवकोटीनाम् ॥६८॥

मांस की डालियों की सर्व ही अवस्थाओं में समय समय पर अनन्त जीव निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं। इसलिये जो पुरुष मांस की डली को भक्षण करता है, या छूता भी है, वह अनंत जीव समूह की हिंसा का भागी होता है।

मधुशकलमपि प्रायो मधुकरहिंसात्मकं भवति लोके।
भजति मधुमूढधीको यः स भवति हिंसकोऽत्यन्तम् ॥६९॥
स्वयमेव विगलितम् यो गृह्णीयाद्वाच्छलेन मधुगोलात्।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रयप्राणिनां घातात् ॥७०॥

मधु या शहद—यह मक्खियों का उगाल होता है, इसके आश्रय भूत बहुत से जीव होते हैं। मधु छत्ते में से छल कपट करके लिया जाता है। छत्ता तोड़ने में उसके आश्रय भूत प्राणियों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का घात होता है। शहद भक्षण करने वाला मनुष्य अत्यन्त हिंसा का भागी होता है। यदि छत्ते को न तोड़ कर सूराख करके शहद निकाल लिया जावे तो भी उसमें अनेक जन्तु, रस के कारण पैदा होते रहते व मरते रहते हैं। सद्गृहस्थों को इन तीनों मकारों का त्याग करना ही योग्य है।

मधु मद्यं नवनीतं पिशितं च महाविकृतयस्ताः।
वाल्भ्यन्ते न व्रतिना तद्वर्णा जन्तवस्तत्र ॥७१॥

श्रावक से इन तीनों का त्याग तो मुख्यतापूर्वक कराया ही जाता है परन्तु और भी वस्तुएँ जैसे मक्खन, चर्मस्पर्शित घी, तेल, जल, विष आदिक अभक्ष्य पदार्थों का त्याग करना भी श्रावक के लिये उचित है। मक्खन से पौने दो घड़ी के भीतर ही जो घी बनाया जावे, वह घी खाने योग्य है। (मक्खन मन को विकारी बनाता है, इसलिये पौने दो घड़ी के भीतर भी न खाने योग्य है)। मधु में मधु के, मदिरा में मदिरा के, मक्खन में मक्खन के, और मांस में मांस के रङ्ग के जीव उत्पन्न हो जाते हैं, जो दृष्टिगोचर नहीं होते हैं, इसलिये महान हिंसा के कारण, इन वस्तुओं को खाना किसी प्रकार भी उचित नहीं है।

योनिरुदुम्बरयुग्मं प्लक्षन्यग्रोधपिप्पल फलानि।
त्रसजीवानां तस्मात्तेषां तद्भक्षणे हिंसा ॥७२॥

ऊमर, कठूमर, पीलूफल, वड़फल और पीपलफल ये पांचों ही त्रस जीवों की उत्पत्ति के स्थान हैं। कभी कभी उड़ते हुए जानवर इनमें दिखाई पड़ते हैं। इनके भक्षण करने से त्रस जीवों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की हिंसा होती है। कोई कहे कि यदि इनको सुखाकर खा लिया जावे तो क्या दोष है ?

यानि तु पुनर्भवेयुःकालोच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि ।
भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्टरागादिरूपास्यात् ॥७३॥

जो पुरुष ऐसी निंद्य वस्तु को सुखा कर ग्रहण करेगा, तो उसके रागादि भावों की अधिकता तो ज़रूर ही होगी; और विशेष रागरूप भावों का होना ही हिंसा है। सुखाने में त्रस जीवों की विराधना होने के कारण अधिक हिंसा होगी। कोई पुरुष हरित (सब्जी) वस्तु को तो नहीं खाता, परन्तु उस वस्तु से राग भाव कर, सुखाकर खा लेता है, तो राग की अधिकता से वह भी एकेन्द्रियों की हिंसा का भागी बनता है। यदि राग न हो तो इतना प्रयास क्यों किया जावे ? यहां फिर कोई प्रश्न करे कि यदि सूखी वस्तु में भी दोष है, तो अन्न क्यों खाया जाता है ? प्रथम तो अन्न निंद्य वस्तु नहीं है, दूसरे वह रागभाव विना साहजिक प्रवृत्ति से ही सूख जाता है। अन्न को साधारणतया पेट भरने की गरज से ही खाया जाता है, वह कोई विशेष राग होने का कारण नहीं। विशेष रागरूप परिणामों के होने को ही हिंसा बतलाया गया है, इसलिये अन्न के खाने में वह दोष नही होता, जो पच उदम्बर और अन्य हरित वस्तुओं को सुखाकर खाने में होता है। हरित वस्तु को बनाकर व सुखाकर खाना दोनों ही समान हिंसा कारक हैं।

अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य ।
जिनधर्मदेशनायाभवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ॥७४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऊपर कहे हुए तीनों मकार और ऊमर आदि पांचों फल, ये आठों ही महापाप के कारण हैं। इनके सर्वथा त्याग द्वारा, निर्मल बुद्धि को धारण कर के ही, जीव जिन धर्म के उपदेश का पात्र होता है, इनके त्याग विना श्रावक नहीं हो सकता, जैसे जड़ के बिना, वृक्ष नहीं हो सकता। इसीलिये इनके त्याग को "अष्ट-मूल गुण" कहा जाता है।

धर्ममहिंसारूपं संश्रृण्वन्तोपि ये परित्यक्तुम्।
स्थावरहिंसामसहास्त्रसहिंसा तेऽपिमुञ्चन्तु ॥७५॥

जो जीव अहिंसा धर्म को अच्छी तरह सुनकर भी स्थावर जीवों की हिंसा छोड़ने को असमर्थ है, उन्हें त्रस जीवों की हिंसा तो छोड़नी ही चाहिये।

कृतकारितानुमननैर्वाक्काय मनोभिरिष्यते नवधा।
औत्सर्गिकी निवृत्तिर्विचित्ररूपापवादिकीत्वेषा ॥७६॥

हिंसादिक का त्याग दो प्रकार का होता है। एक उत्सर्ग त्याग और दूसरा अपवाद त्याग। सामान्यतः सर्वथा त्याग को उत्सर्ग कहते हैं। इसके कृत, कारित अनुमोदनारूप, मन, वचन, काय करके नव भेद होते हैं। मन से, बचन से, काय से पाप न करना, दूसरे से न कराना और करने वाले को भला नहीं समझना। इन नौ भेदों में से किसी भेद का थोड़ा वहुत किसी रीति से त्याग करने को अपवाद त्याग कहते हैं। इसके अनेक भेद हैं।

स्तोकैकेद्रियघाताद्गृहिणां सम्पन्नयोग्यविषयाणाम्।
शेषस्थावरमारण विरमणमपि भवति करणीयम् ॥७७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिंसा का सर्वथा त्याग तो मुनि धर्म में ही हो सकता है। यदि कोई मुनि धर्म को नहीं ग्रहण कर सकता, तो उसे श्रावक का धर्म पालन करते हुए, त्रस जीवों को हिंसा का तो त्याग अवश्य ही कर देना चाहिये। गृहस्थी एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा सर्वथा त्याग नहीं कर सकता, तो भी वृथा हिंसा तो नहीं करनी चाहिये। प्रयोजन सिवाय, अन्य स्थावर जीवों की हिंसा जो असावधानी से प्रवृत्ति करते हुए होती है, उसका तो अवश्य ही त्याग कर देना चाहिये। श्रावक को दयालु होना योग्य है। त्रस तथा स्थावर जीवों का व्यौरा निम्न प्रकार है।

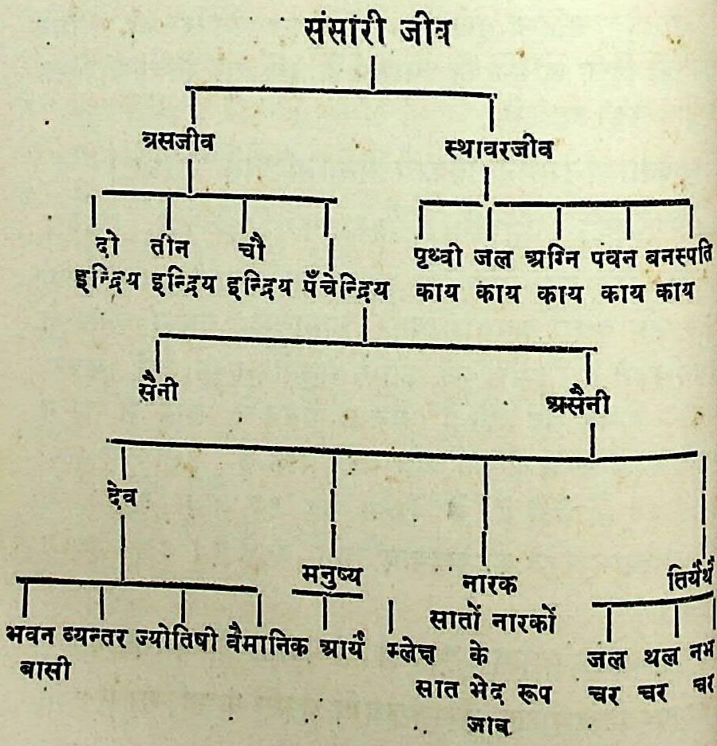

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अमृतत्वहेतुभूतं परममहिंसारसायणं लब्ध्वा ।
अवलोक्य बालिशानामसमञ्जसमाकुलैर्न भवितव्यम् ॥७८॥

सूक्ष्मोभगवद्धर्मो धर्मार्थं हिंसने न दोषोऽस्ति ।
इतिधर्ममुग्धहृदयैर्न जातु भूत्वा शरीरिणोहिंस्याः ॥७९॥

किसी जीव को हिंसा करते हुवे भी (उसके पूर्व पुण्योदय के कारण) सुखसातायुक्त देख कर; और अपने आपको अहिंसा धर्म का पाचन करते हुवे भी, (पूर्व पापोदय के कारण) दुःखी जानकर धर्म में आकुलता नहीं करनी चाहिये। यह विचारना चाहिये कि हिंसा का फल तो दुःखरूप ही है। यह जो हिंसा करते हुवे भी सुख सामग्री को भोग रहा है, यह उसके पूर्व उपार्जित पुण्य का फल है। और मैं जो अब अहिंसा धर्म का पालन करते हुवे भी दुःखी हूँ, यह दुःख अहिंसा का फल नहीं है, यह मेरे किसी पूर्वबद्ध पापकर्म का ही फल है। अहिंसा तो सुखरूप ही है। कभी ऐसा होता है कि एक अहिंसा धर्म का पालन करने वाला किसी मिथ्यादृष्टि को हिंसा में धर्मसिद्ध करते हुवे, और उसकी पुष्टि करते हुवे देख कर, धर्म से डिगने लगता है। जो वास्तव में धर्मात्मा होते हैं, वे मिथ्या दृष्टियों के फन्दे में नहीं फँसते हैं, स्वयम् वस्तु स्वरूप को विचार अपने धर्म में दृढ़ रहते हैं। कोई कोई अज्ञानी यह कह दिया करता है, कि हिंसा में पाप तो बेशक है, परन्तु यज्ञादिक में धर्म के निमित्त हिंसा करने में कोई दोष नहीं है। ऐसा श्रद्धान कर, हिंसा में प्रवृत्ति करना योग्य नहीं है; क्योंकि जहाँ हिंसा है; वहाँ हिंसा में धर्म कदापि नहीं हो सकता। यहाँ यह प्रश्न होता है कि जैनमत में भी तो मन्दिर का बनवाना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूजा प्रतिष्ठादि करना कहा गया है, तो क्या इन कार्य्यों में ध- है या नहीं ? उत्तर यह है कि मन्दिर बनवाना पूजा प्रतिष्ठा- के कार्य, यदि यत्नचार रहित, बेपरवाई से, केवल मान बड़ा- के वास्ते किये जावें तो धर्म नहीं हो सकता, पाप ही होगा। औ- यदि यत्न के साथ, धर्म बुद्धि पूर्वक किये जावें, तो आरंभ जनि- हिंसा तो थोड़ी ही होती है, जिसका फल भी तुच्छ होता है परन्तु धर्मानुराग के कारण पुण्यबन्ध विशेष होता है। हिंसा क- पाप, पुण्य की अपेक्षा बहुत ही अल्प होता है। इसके सिवा ऐसे शुभ कार्यों में धन खर्च करने से लोभ कषाय रूप अन्तरं- हिंसा का त्याग होता है। हिंसा का मूल कारण कषाय है, तीव्र कषाय रूप होकर वाह्य हिंसा न करते हुवे भी पाप होता है। इस- लिये पूजा प्रतिष्ठादि शुभ कार्य करने में विशेष धर्म ही होता है जैसे समुद्र में एक बूंद विष की कुछ दोष नहीं कर सकती, ऐसे ही शुभकार्यों के करने में जो हिंसा का पाप होता है, वह पुण्य- बन्ध की अपेक्षा बहुत थोड़ा होता है, और वह कोई दोष नहीं कर सकता। यह धन शुभकार्य के सिवाय यदि पापकर्मों में खर्च किया जाता तो महान पाप के बन्ध का कारण होता । इस अपेक्षा से भी इस को शुभकार्य में खर्च करना अच्छा है। ऐसा करने से पापों से दूर रह शुभ मार्ग की ही प्रवृत्ति होती है। ऐसा शुभ काय आरम्भी श्रावक किया करते हैं। इस लिये सामान्यतः ऐसा उपदेश दिया गया है। इसमें प्रयोजन अन्तरंग भाव अहिंसा या वीतरागता के बढ़ाने का है, हिंसा का प्रयोजन नहीं है, आ- रम्भी हिंसा का बचाना अशक्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्मो हि देवताभ्यः प्रभवति ताभ्यः प्रदेयमिहसर्वम् ।
इति दुर्विवेककलितां धिषणां प्राप्य न देहिनो हिंस्याः ॥८०॥

कोई कोई कहा करते हैं कि जब देवता धर्म के कर्ता हैं तो, उनके निमित्त तो पशुओं के मांसादिक की बलि आदि सब कुछ दे देना योग्य ही है। ऐसा कह देना विवेकशून्य है। यह कदापि मानने योग्य नहीं है।

पूज्यनिमित्तं घाते छागादीनां न कोऽपि दोषोऽस्ति ।
इति संप्रधार्य कार्यं नातिथये सत्त्वसंज्ञपनम् ॥८१॥

देवताओं के लिए, अथवा श्रेष्ठ पूज्य पुरुषों के सत्कार आदि के लिए भी जीवादिक का घात करना कभी भी पुण्य का कारण नहीं हो सकता। हिंसा में दोष ही दोष है, हिंसा में धर्म मान लेना बड़ी भारी भूल है। तथा कोई देवी देवता पशु बलि से प्रसन्न होगा, या कोई माननीय पुरुष राज़ी होगा, यह हमारी कल्पना झूठी है, देवी देवता व बड़े पुरुष पशुओं के भी मान्य हैं। पशु उनके सामने दीन हैं। उनको कष्ट पहुँचाने से वे राज़ी कैसे हो सकते हैं?

बहुसत्त्वघातजनिता दशनाद्वरमेकसत्त्वघातोत्थम् ।
इत्याकलय्य कार्यं न महासत्त्वस्य सिंसनं जातु ॥८२॥

कभी कभी यह कुतर्क की जाती है कि अन्नके आहार में बहुत से जीव मरते हैं,उनके बदले यदि एक बड़ा जानवर मारकर खालिया जावे तो भला है। ऐसा कहना मूर्खतापूर्ण है; क्योंकि हिंसा तो प्राणघात से होती है। एकेन्द्रिय की अपेक्षा पंचेन्द्रिय जीव के द्रव्य प्राण और भाव प्राण बहुत ज्यादा होते हैं। इसलिए बहुत से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छोटे छोटे जीवों के घात से भी बड़े प्राणी के मारने से बहुत हिंसा होती है। जब एक जीव के घात से द्वीन्द्रिय जीव के घात में असंख्यात गुणा पाप है, तो पञ्चेन्द्रिय के मारने में तो और भी ज्यादह पाप है। तथा जलादि एकेन्द्रियों के बिना तो किसी का कार्य भी नहीं चल सकता। मांसादि कोई आवश्यक नहीं है। बड़े पशु को मार कर उसकी और उसके आश्रित अनेक जीवों की क्यों हिंसा की जावे।

रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन।
इति मत्वा कर्त्तव्यं न हिंसनं हिंस्रसत्त्वानाम् ॥८३॥

कोई कोई ऐसा विचार प्रगट किया करते हैं। कि सर्प, बिच्छू सिंह आदिक हिंसक जीवों के मार डालने से, और अनेक जीवों की रक्षा होगी इस वास्ते इनके मारने में पाप नहीं होगा। ऐसा पाप श्रद्धान करना भी ठीक नहीं है। क्योंकि जो हिंसा यह जीव करते हैं, उसके पाप के भागी यह ही होंगे। लोक में अनेक जीव पाप पुण्य किया करते हैं हम उनकी चिन्ता कहाँ तक करें। हिंसक जीव जो हिंसा करते हैं, वह पाप कर्म का बन्ध करेंगे, हम उनकी हिंसा करके क्यों पाप उपार्जन करें। यदि हम भी उनकी हिंसा करें, तब हम भी हिंसक होजायेंगे। सर्प सिंहादिक सताये जाने पर व भय पाने पर हमला करते हैं, अन्यथा वे अपने कार्यों में लगे रहते हैं। उनके मारने में धर्म मानना मिथ्या श्रद्धान है। परन्तु यदि कोई मानव सर्प या सिंहादि से मारा जाता हो तो उस मानव को बचाना योग्य है, क्योंकि उसके प्राण उस पशु की अपेक्षा अधिक मूल्यवान हैं। तब यदि सर्प या सिंह की हिंसा होगी, वह हमारे द्वारा आरम्भी हिंसा होगी। हमने मानव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बचाया, यह तो धर्म किया, परन्तु आरम्भी हिंसा की यह पाप किया। यहाँ पाप कम, पुण्य अधिक है।

बहुसत्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरुपापम्।
इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिंसनीयाः शरीरिणो हिंस्राः ॥८४॥

बहुत जीवों के घाती जीव जैसे चिड़ीमार आदि "यदि यह जीते रहेंगे तो और अधिक पाप करेंगे" इस प्रकार की दया करके हिंसक जीवों को नहीं मारना चाहिये, वह हिंसक जीव अपने पाप के भागी आप बनते हैं। हमारे से बन सके तो हम उनसे इस पाप क्रिया के छुड़ाने का यत्न करें, और उनको कल्याण के मार्ग पर लगा देवें। मार देने से उनकी आत्मा हिंसक भावों से छूट नहीं सकता।

बहुदुःखासंज्ञपिताः प्रयान्ति त्वचिरेण दुःखविच्छित्तिम्।
इति वासना कृपाणीमादाय न दुःखिनोऽपि हन्तव्याः ॥८५॥

बहुत से यह कहा करते हैं कि जो जीव रोग अथवा दरिद्र आदि दुःखों से बहुत ही दुःखी हो रहा हो, यदि उसको मार दिया जावे तो वह तत्कालीन दुःखों से तो अवश्य छूट जावेगा। यह भूल है, ऐसा मिथ्या श्रद्धान कभी भी नहीं करना चाहिये। प्रथम तो कोई जीव केवल शरीर त्याग देने से दुःख से नहीं छूट सकता दूसरे यह अटल नियम है कि उसे अपने कर्मों का फल भोगना पड़ेगा, चाहे वह इसी जन्म में भोग लेवे, चाहे दूसरे किसी जन्म में। जैसा जिस जीव के कर्मोदय होता है, उसे अवश्य ही भोगना पड़ता है। घात करने से प्राणों को पीड़ा होती है, जो हिंसक तथा हिंस्य दोनों के लिये ही अशुभ बन्ध का कारण होती

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। हमें उचित है कि कष्ट प्राप्त मानव की सेवा करें, ऐसी शि देवें कि वह दुःख उसे कम मालूम पड़े। मार डालना कोई से नहीं है, न किसी को यह हक है कि दूसरे प्राणी को मार डाले कष्ट पीड़ित प्राणी कष्ट से मुक्त भी हो सकते हैं।

कृच्छ्रेण सुखावाप्तिर्भवन्ति सुखिनो हताः सुखिन एव।
इति तर्कमण्डलाग्रः सुखिनां घाताय नादेयः ॥८६॥

कुछ पुरुषों का यह मत होता है, कि बड़े बड़े कष्ट सहन क से ही, सुख की प्राप्ति होती है, इसलिये यदि सुखी जीवों काशी करौत आदि की रीति से कष्ट देकर मार डालें तो परलोक भी यह सुखी रहेंगे। यह श्रद्धान भी मिथ्या श्रद्धान ही है। सु तो सत्यार्थ धर्म के साधन से होते हैं, न कि इस प्रकार सुख मरने मारने से।

उपलब्धि सुगतिसाधन समाधिसारस्य भूयसोऽभ्यासात्।
स्वगुरोः शिष्येण शिरो न कर्त्तनीयं सुधर्ममभिलषिताः ॥

कोई कोई मिथ्यादृष्टि यह श्रद्धान कर बैठते हैं, कि हमारे ने बहुत दिनों तक अभ्यास किया है, और अब समाधि में हो रहे हैं, इस समय यदि इनको प्राणान्त कर दिया जावे, उच्चपद को प्राप्त हो जावेंगे। ऐसा मिथ्या श्रद्धान कर शिष्य अपने गुरु का सिर काटना योग्य नहीं है। गुरु महाराज तो अ अभ्यास आदि का फल आप ही आगे या पीछे पा लेवेंगे, शि को पापकर्म के बन्ध करने के सिवाय और क्या मिलेगा? नहीं। गुरु का जीवन जब तक वह जीवित रहेंगे अधिक आ न्नति कर सकता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धनलवपिपासिताना विनेय विश्वासनायदर्शयताम् ।
झटितिघटचटकमोत्तंश्रद्धेयं नैवखारपटिकानाम् ॥८८॥

खारपटिक मत के मानने वाले कहा करते हैं कि जैसे कोई चिड़िया घड़े में बन्द हो तो जितना जल्दी उस घड़े को फोड़ दिया जावे, उतनी ही जल्दी उस चिड़िया की मुक्ति हो जाती है। ठीक उसी प्रकार यदि किसी के शरीर का नाश कर दिया जावे तो बन्धन से रहित होकर जीव की मुक्ति हो जाती है। ऐसा मिथ्या श्रद्धान कर किसी भी जीव को अपने तथा अन्य के शरीर को कभी भी नाश नहीं करना चाहिये। क्योंकि किसी का वध करने से यद्यपि स्थूल शरीर छूटेगा, परन्तु अष्ट कर्मों का रचा हुआ सूक्ष्म शरीर नहीं छूट सकता है, वह तो आत्मध्यान की अग्नि से ही जल सकता है।

दृष्ट्वापरं पुरस्तादशनाय क्षामकुक्षिमायान्तम् ।
निज मांसदानरभसादालभनीयो नचात्मापि ॥८९॥

बहुत से पुरुष इसी में पुण्य समझ बैठते है, कि यदि कोई भूखा मनुष्य सामने आकर खाने के लिये याचना करे, तो उस पर दया करके अपने शरीर का मांस दे डाले। यह स्वात्मघात है, ऐसा नहीं करना चाहिये। मांस का दान अति निन्द्य और धर्म विरुद्ध है तथा हिंसा का कारण है। उसे भक्ष्य पदार्थ ही खाने के लिये देकर सन्तोषित करना योग्य है।

को नाम विशति मोहं नयभङ्गविशारदानुपास्यगुरून् ।
विदितजिनमतरहस्यः श्रयन्नहिंसा विशुद्धमतिः ॥९०॥

जिस किसी ने नयभङ्ग के ज्ञाता गुरु महाराज से जिनमत के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रहस्य को समझ कर अहिंसा धर्म के वास्तविक स्वरूप को जान लिया है, वह कभी भी हिंसा में धर्म मानने वाले मतमतान्तरों के फन्दे में नहीं फँस सकता ।

छेदनताड़नबन्धा भारस्यारोपणं समधिकस्य ।
पानान्नयोश्च रोधः पञ्चाहिंसा व्रतस्येति ॥१८३॥

अहिंसा अनुव्रत के पाँच अतिचार हैं । १ छेदन अतिचार, किसी जीव के हाथ पाँव आदि अंग तथा नाक कान आदि उपांगों को काट कर या छेद कर दुःख पहुँचाना । २ ताड़न-लकड़ी, कोड़ा, चाबुक आदि से मारना---पीटना । ३ बन्धन, पशु आदि जीवों को बाँध कर रोके रखना । ४ अतिभारारोपण----शक्ति से अधिक बोझ भार का लादना । ५ अन्नपाननिरोध, खाना, पीना न देकर भूखा प्यासा रखना । इन अतिचारों से व्रतोंका एकोदेश भंग होकर अहिंसा व्रत में दोष लगता है । जहाँ कषाय या प्रमाद वश होकर वर्ताव होता है, वहाँ अतिचार होते हैं । अन्तरंग में सुधार के हेतु से किसी को दण्ड देना अतिचार नहीं है, जैसे अपराधी को क़ैद में डालना, विद्यार्थी को, अपराध हो जाने पर, ताड़ना करना अथवा उपवास आदि अन्य दण्ड देना। इस प्रकार अहिंसा के स्वरूप को भली भांति जान, ज्ञानी तथा विवेकीजनों का यह कर्तव्य है, कि अपने अपने पद के अनुसार हिंसा को त्याग, अहिंसा धर्म का पालन करें । अहिंसा धर्म के पालन करने से ही यह जीव धर्म मार्ग को ग्रहण कर अपना आत्म कल्याण कर सकता है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सत्य व्रत

यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि ।
तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदाः सन्ति चत्वारः ॥९१ ॥

प्रमाद कषाय के योग से स्व तथा पर को हानि कारक अथवा अन्यथा रूप वचन कहने को अनृत या असत्य कहते हैं। इसके चार भेद हैं ।

स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि हि यस्मिन्निषिध्यते वस्तु ।
तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र ॥ ९२ ॥

अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अस्तित्वरूप (मौजूद) वस्तु का नास्तिरूप (गैर मौजूद) कहना असत्य का पहला भेद है--- जैसे देवदत्त नाम का कोई पुरुष किसी जगह बैठा हुआ है; उसके बारे में किसी ने प्रश्न किया कि देवदत्त है ? तो उत्तर में कहना कि नहीं है ।

यहां पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का संक्षिप्त स्वरूप जान लेना जरूरी है । द्रव्य—जो सत् हो, अर्थात् जिसकी सत्ता सदा बनी रहे । द्रव्य का यह (सत्) लक्षण, उत्पाद, व्ययध्रुवपने सहित होता है । गुण तथा पर्यायों के समुदाय का नाम ही द्रव्य है । क्षेत्र—जिस क्षेत्र को रोक कर द्रव्य उसमें स्थित हो, वह उसका क्षेत्र कहलाता है । काल—जिस काल में द्रव्य जिस रूप से परिणमे, वह उसका काल कहलाता है । भाव—द्रव्य का निज भाव ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

असदपि हि वस्तुरूपं यत्र परक्षेत्रकाल भावैस्तैः ।
उद्भाव्यते द्वितीयं तदनृतमस्मिन् यथास्ति घटः ॥ ९३ ॥

अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से नास्तिरूप वस्तु को अस्तिरूप कह देना असत्य का दूसरा भेद है। जैसे किसी जगह घड़े के द्रव्य क्षेत्र काल भाव का अस्तित्व नहीं है, वहां किसी के प्रश्न करने पर कि घड़ा है ? यह कह देना कि घड़ा है। अर्थात् घड़े के न होते हुवे यह कह देना कि घड़ा है, असत्य का दूसरा भेद है।

वस्तु सदपि स्वरूपात् पररूपेणाभिधीयते यस्मिन् ।
अनृतमिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथाश्वः ॥ ९४ ॥

अपने चतुष्टय (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव) से विद्यमान भी पदार्थ को अन्य स्वरूप कहना तीसरा भेद है। जैसे किसी जगह बैल स्वचतुष्टय से मौजूद है, तब वहाँ किसी के यह पूछने पर कि वहाँ क्या है ? यह कह देना कि घोड़ा है। अर्थात् कुछ का कुछ कह देना असत्य का तीसरा भेद है।

गर्हित मवद्य संयुक्त प्रियमपि भवति वचनरूपं यत् ।
सामान्येन त्रेधामतमिदमनृतं तुरीयंतु ॥ ९५ ॥

४—अनृत का चौथा भेद तीन प्रकार है। गर्हित, सावद्य और अप्रिय।

पैशुन्यहासगर्भं कर्कशमसमञ्जसं प्रलपितं च ।
अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम् ॥ ९६ ॥

(क) गर्हित---जिन वचनों में दुष्टता होवे। जिनसे दूसरों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का बुरा होवे, अपने को रौद्र ध्यान होवे। ऐसे हंसी मजाक के वचन जिनसे दूसरे जीवों का मर्म छेद होवे, कठोर, मिथ्या श्रद्धान रूप वचन, प्रलाप अर्थात् व्यर्थ के गपशप, तथा और भी अनेक शास्त्र विरुद्ध वचन गर्हित अर्थात् निन्द्य कहलाते हैं।

छेदन भेदन मारण कर्षण वाणिज्य चौर्य्य वचनादि।
तत्सावद्यं यस्मात्प्राणिवधाद्याः प्रवर्तन्ते ॥ ९७ ॥

(ख) सावद्य----"अवद्य" का अर्थ "पाप"। जिन वचनों से पाप की प्रवृत्ति होती है; वे सावद्य बचन कहलाते हैं। जो अन्य जीवों के छेदने, भेदने, मारने, काटने, खैंचने रूप वचन हैं, अथवा हिंसा मयी व्यापार रूप वचन हैं या चोरी रूप वचन हैं, यह सबही सावद्य वचन कहलाते हैं, क्योंकि इन वचनों से प्राणियों के घातरूप हिंसा आदि पापों की प्रवृत्ति होती है।

अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोक कलहकरम्।
यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयम् ॥ ९८ ॥

(ग) अप्रिय----जो वचन दूसरे जीवों के अप्रीति करने वाले, भय करने वाले, वैर शोक तथा कलह करने वाले होते हैं, सब अप्रिय वचन कहलाते हैं।

सर्वस्मिन्नप्यस्मिन्प्रमत्तयोगैक हेतु कथनं यत्।
अनृत वचनेऽपि तस्मान्नियतंहिंसा समवतरति ॥ ९९ ॥

पहले बता चुके हैं कि जिस जगह प्रमाद अर्थात् बहुकषाय होते हैं वहाँ ही हिंसा होती है। असत्य भाषण तथा झूठ बोलना भी कषाय के कारण से ही होता है, इसलिये असत्य वचन में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिंसा अवश्य होती है।

हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकल वितथवचनानाम्।
हेयानुष्ठानादेरनुवदनं भवति नासत्यम् ॥ १०० ॥

अनृत वचनों के सर्वथा त्यागी महा मुनीश्वर, हेयोपादेय का उपदेश बारम्बार करते हैं। पुराण और कथाओं में नाना प्रकार के अलंकार गर्भित नवरसपूर्ण विषयों का वर्णन करते हैं। पाप की निन्दा करते हुए, पापी जीवों को उनका उपदेश अप्रिय लगता है। कोई कोई उनको अपने प्यारे बन्धुओं तथा रिश्तेदारों को धर्मोपदेश देते हुए देख कर दुःखी होते हैं। परन्तु उन आचार्यों को अनृत वचन का दोष नहीं लगता, क्योंकि उनके वचन कषाय प्रमाद सहित नहीं हैं। प्रमाद सहित योग से यथार्थ वचन बोलने का नाम ही अनृत है।

भोगोपभोगसाधनमात्रं सावद्यमक्षमा मोक्तुम्।
ये तेऽपिशेषमनृतं समस्तमपिनित्यमेवमुञ्चन्तु ॥१०१॥

मुनिराज तो सर्वथा ही समस्त अनृत का त्याग किया करते हैं, परन्तु गृहस्थों के अपने संसारिक कार्य सावद्य वचनों के विना नहीं चल सकते। उनके लिए यह उचित है कि वह सावद्य को छोड़ बाकी समस्त अनृत वचनों का त्याग करें और सावद्य वचन भी केवल उतने ही कहें जितने उन्हें अपने भोग उपभोग के निमित्त लाचारी से कहने पड़ें, बाकी उनका भी त्याग करें।

मिथ्योपदेशदानं रहसोऽभ्याख्यानकूटलेखकृती।
न्यासापहारवचनं साकारकमन्त्रभेदश्च ॥ १८४ ॥

सत्याणुव्रत के ५ अतिचार हैं। मिथ्योपदेश--शास्त्र के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विरुद्ध कुछ का कुछ झूठा उपदेश देना । **रहोभ्याख्यान**— स्त्री पुरुषादि की गुप्त वार्ता तथा गुप्त आचरणों को प्रकट करना **कूटलेख क्रिया**—झूठे खत, कागज़ दस्तावेज़ादिक का लिखना बनाना, जालीफ़र्ज़ी दस्तावेज़ बनाना । **न्यासापहार**—कोई पुरुष रुपया, जेवर आदि द्रव्य धरोहर रख जावे, फिर मांगने आवे, यदि वह भूल कर थोड़ा माँनने लगे, उससे उस समय इस प्रकार कहना कि "जितना और जो कुछ तुम्हारा हो ले जाओ" इस प्रकार जान बूझ कर पूरा द्रव्य न देना । **साकार मन्त्र भेद**— किसी के चेहरे आदि की चेष्टाओं से उसके मन का गुप्त अभिप्राय जान कर प्रगट कर देना, या कहीं चार आदमी गुप्त सम्मति कर रहे हों, उनके मुखादि की चेष्टा से उनका भेद जानकर के दूसरों को प्रगट कर देना जिससे उनकी हानि सम्भव है। इस प्रकार सत्यव्रत के स्वरूप को जानकर मोक्षाभिलाषी भव्यात्माओं को सत्यव्रत को ग्रहण कर अपना आत्म कल्याण करना चाहिये ,

अचौर्य व्रत

अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत् ।
तत्प्रत्येयं स्तेयं सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात् ॥ १०२ ॥

लोभादि प्रमादों के योग से, दूसरों के वस्त्रादिक पदार्थों को विना उनके दिये अंगीकार करने का नाम स्तेय अर्थात् चोरी है। दूसरे की गिरी हुई, पड़ी हुई वस्तु को उठा लेना, जबरदस्ती करके,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ले लेना, ठगी करके भोले मारकर किसी न किसी प्रकार स्वामी की आज्ञा बिना वस्तु का ले लेना चोरी है। चोरी करने में भी हिंसा होती है—अन्य जीव के प्राणघात करने के हेतु से, प्रमाद अर्थात कषायमई भाव होते ही, चोरी करने वाले के भाव प्राणों का तो घात हो ही जाता है। चोरी प्रगट हो जाने पर राजा की ओर से दण्ड मिलने पर या मार पीट हो जाने से उसके द्रव्य प्राणों का भी घात हो जाता है। जिस पुरुष की वस्तु चोरी जाती है, इष्ट वस्तु के वियोग से उसके अन्तरंग में पीड़ा होने के कारण उसके भाव प्राणों की हिंसा होती है, वस्तु के हरण होने से उसके द्रव्य प्राणों का घात भी सम्भव है। प्रथम तो कभी २ ऐसा होता है कि निमित्त पाकर,वियोग के कारण वस्तु का स्वामी आप ही अपना घात कर डालता है, दूसरे चोरी गई वस्तु के निमित्त से उसके द्रव्य प्राणों की पुष्टि होती थी, वह पुष्टि कम हो जाती है। इसलिए उसवस्तु के गुम हो जाने से स्वामी के द्रव्य प्राणों का घात भी अवश्य हो जाता है।

अर्था नाम य एते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसाम्।
हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनोहरत्यर्थान् ॥१०३॥

जिस प्रकार संसारी जीवों के, उनके जीवन के कारण भूत इन्द्रिय श्वासोश्वासादि अन्तरंग के प्राण होते हैं, वैसे ही धन धान्य सम्पदा, बैल, घोड़ा, दासी, दास, महल, जमीन, पुत्र, स्त्री, वस्त्राभूषण आदिक जितने पदार्थ पाये जाते हैं, वे सब उनके जीवन के कारण भूत बाह्य प्राण हैं। उनमें से किसी एक पदार्थ का वियोग हो जाने पर, जीवों को प्राणघात के समान दुःख होता है। इसी कारण जो जीव जिसके धनादिक वस्तु का हरण करता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है, वह उसके प्राणों का ही हरण करता है। इस प्रकार चोरी में साक्षात् हिंसा है।

हिंसायाः स्तेयस्य च नाव्याप्तिः सुघटमेवसायस्मात्।
ग्रहणे प्रमत्तयोगो द्रव्यस्य स्वीकृतस्यान्यैः ॥ १०४ ॥

चोरी के इस लक्षण में कि जहां चोरी होती है, वहां हिंसा अवश्य होती है, अव्याप्ति दूषण नहीं आता है; क्योंकि प्रमाद के बिना चोरी होती नहीं, और जैसा पहले बता चुके हैं, जहां प्रमाद होता है वहां हिंसा अवश्य होती है।

नातिव्याप्तिश्च तयोः प्रमत्तयोगैक कारण विरोधात्।
अपि कर्म्मानुग्रहणे नीरागाणामविद्यमानत्वात् १०५

बिना दी हुई वस्तु के ग्रहण करने को चोरी कहते है, सो वीतराग अर्हन्त देव भी जिस समय द्रव्य कर्म, नोकर्म वर्गणाओं को ग्रहण करते हैं, तो उनको भी चोरी का दोष लगता है, क्योंकि वह वर्गणायें किसी की दी हुई तो नहीं होतीं। ऐसा तर्क करना ठीक नहीं है। वीतराग देव हिंसक नहीं हैं। मोहनीय कर्म के सर्वथा अभाव हो जाने से, प्रमाद योग रूप कारणों का भी अभाव है। इसलिए ऊपर कहे हुए चोरी के लक्षण में अति व्याप्ति दूषण भी नहीं आ सकता, क्योंकि प्रमाद योग से, दूसरों की बिना दी हुई वस्तुओं के अंगीकार करने का नाम ही चोरी है। कार्माण वर्गणाओं में चोरी का व्यवहार नहीं होता, क्योंकि जहां लेना देना रूप व्यवहार सम्भव होता है, वहाँ ही चोरी का दूषण आता है। इस प्रकार जहां चोरी है वहां हिंसा अवश्य है अर्थात् स्तेय हिंसा रूप ही है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

असमर्था ये कर्तुं निपानतोयादिहरणविनिवृत्तम् ।
तैरपि समस्तमपरं नित्यमदत्तं परित्याज्यम् ॥१०६॥

चोरी का सर्वथा त्याग तो मुनिधर्म में ही हो सकता है। जो पुरुष सर्वथा त्याग करने के लिए असमर्थ हों, उन्हें एक देश त्याग तो अवश्य ही कर देना चाहिये। एक देश त्यागी (श्रावक) कुएँ, तालाब आदि का जल, खेत की साधारण मिट्टी आदि जिन के बिना दिए ग्रहण करने में संसार में चोर नहीं कहलाता, ग्रहण कर सकता है। ऐसी वस्तुओं के सिवाय बाक़ी और सब ही बिना दी हुई वस्तुओं के ग्रहण करने का त्याग करना ही योग्य है। सर्वथा त्यागी तो जल तथा मिट्टी भी बिना दिए ग्रहण नहीं कर सकता।

प्रतिरूपव्यवहारः स्तेननियोगस्तदाहृतादानम् ।
राजविरोधातिक्रम हीनाधिकमानकरणे च ॥१८५॥

अचौर्याणु व्रत के ५ अतिचार हैं। स्तेन प्रयोग—चोरी करने के उपाय बताना, चोरी करने वालों की सहायता करना। तदाहृता दान—चोरी का माल लेना। विरुद्ध राज्यातिक्रम—अप्रबन्ध या विरुद्ध राज्य का प्रबन्ध होने पर मर्यादा को उल्लंघन कर वर्तना, नीति छोड़ कर लेन देन करना। हीनाधिक मान करण—लेन देन के बाट, तराजू गज़ आदि का कम ज्यादह रखना। प्रतिरूपक व्यवहार—अच्छी चीज़ में खोटी चीज़ मिला कर, और अच्छी कह कर बेचना—कम क़ीमत वाली चीज़ को ज्यादह क़ीमत वाली चीज़ में मिलाकर बढ़िया कहकर बेचना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शील तथा ब्रह्मचर्य व्रत

यद्वेदरागयोगान्मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म ।
अवतरति तत्र हिंसा वधस्य सर्वत्र सद्भावात् ॥१७०॥

हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत् ।
बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत् ॥१०८॥

पुरुष वेद, स्त्री वेद, नपुंसक वेद, इन तीनों वेदों के राग रूप योग से, स्त्री पुरुष का मिल कर काम सेवन करने का, या काम सेवन का विचार करने का नाम ही अब्रह्म अर्थात् कुशील है। हिंसा के बिना अब्रह्म होता ही नहीं। अब्रह्म में हिंसा का सब ही स्थानों में सद्भाव पाया जाता है। मैथुन सेवन में योनि और वीर्य के जीवों के द्रव्य प्राणों का घात तो अवश्य ही होता है।

यदपि क्रियते किञ्चित्मदनोद्रेकादनङ्गरमणादि ।
तत्रापि भवति हिंसा रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात् ॥१०६॥

ये निज कलत्रमात्रं परिहर्तुं शक्नुवन्ति नहि मोहात् ।
निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं तैरपि न कार्यम् ॥११०॥

काम रूप परिणामों से स्त्री पुरुष दोनों के भाव प्राणों का घात होता है, शरीर में शिथिलतादिक अन्य निमित्तों के कारण द्रव्य प्राणों की भी हिंसा होती है। इसके सिवाय काम की तीव्रता के कारणमैथुन सेवन करनेयोग्य अंगोंको छोड़,अन्यअङ्गोंद्वारा जो अनंग क्रीड़ा की जाती है, उसमें भी रागादिक कषायों की बाहुल्यता के कारण हिंसा अवश्य होती है। मैथुन सेवन का त्याग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी दो प्रकार का ही है, एक सर्वथा त्याग और दूसरा एकदेश त्याग। इनमें से सर्वथा त्याग तो मुनि धर्म में ही हो सकता है। जहाँ तक बन सके सर्वथा त्याग करना ही योग्य है। यदि इतनी सामर्थ न होवे तो एक देश त्याग तो श्रावक को अवश्य ही करना चाहिए, श्रावक धर्म में अपनी विवाहिता स्त्री के सिवाय वेश्या, दासी, परस्त्री का सेवन करना सर्वथा त्याज्य है।

स्मरतीव्रभिनिवेशोऽनङ्गक्रीडान्यपरिणय करणम्।
अपरिगृहीतेतरयोर्गमने चेत्वरिदयोः पञ्च ॥१८६॥

ब्रह्मचर्याणुव्रत के ५ अतिचार हैं। कामतीव्राभिनिवेश—काम सेवन की अत्यन्त अभिलाषा रखना वा काम क्रीड़ा में अत्यन्त मग्न रहना। अनंगक्रीड़ा—काम क्रीड़ा के अंगों को छोड़ कर अन्य अंगों से काम-क्रीड़ा करनी। पर विवाह कारण—दूसरे के लड़कों, लड़कियों का विवाह करा देना परिगृहीतेत्वरिकागमन—दूसरे की विवाही हुई शीलभ्रष्ट स्त्री के यहाँ आना जाना,कुवचनालाप करना,कुचेष्टा करना। अपरगृही-तेत्वरिकागमन—बीना विवाही वेश्या दासी आदि से कुवचना-लाप करना, कुचेष्टा करना। ब्रह्मचर्य व्रत सर्वोत्कृष्ट और महादु-द्धरव्रत है। ब्रह्मचर्य के बिना व्रत करना, तप करना सब व्यर्थ है। ब्रह्मचर्य के बिना अन्य सब कायक्लेश भी वृथा ही है। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाला समस्त लोगों के वन्दने योग्य होता है। देवगण, इन्द्र, अहमिन्द्रादिक सबही उसकी पूजा करते हैं। जो ब्रह्मचर्य व्रत को पालन करना चाहते हैं उन्हें नीचे लिखी परमा-गम की शिक्षा को अवश्य ही अपने चित्त में धारण करना चाहिए। स्त्रियों की कथा तथा विषयोत्पादक विवरण सुनने, कहने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तथा पढ़ने का त्याग, स्त्रियों का रागरँग कौतूहल, या उनकी चेष्टाओं के देखने का त्याग। अपनी दृष्टि सदा नीची और विकार रहित रखना। ब्रह्मचर्यव्रत पालन करने वाले को मेले, नाटक, सिनेमा, नाच आदि विकार बढ़ाने वाले दृश्य नहीं देखने चाहियें। व्यभिचारी पुरुषों की संगति से बचना चाहिए। मादक वस्तु का त्याग करो, ताम्बोल, पुष्पमाला, अतर फुलेल आदि शीलव्रत भंग के कारणों को दूर से टालो। गीत नृत्यादि कामोद्दीपन के कारणों का त्याग करो। रात्रि भोजन का त्याग करो। विकार के कारण लोक विरुद्ध वस्त्राभरण मत पहनो। एकान्त में किसी स्त्री से संसर्ग मत करो। रसना इन्द्रिय की लम्पटता छोड़ो। जिह्वा की लम्पटता के साथ साथ हजारों दोष उत्पन्न होजाते हैं। जिह्वा इन्द्रिय के लोलुपी पुरुष के सन्तोष नष्ट होजाता है, समताभाव को वह स्वप्न में भी धारण नहीं कर सकता, उसका लोक व्यवहार नष्ट हो जाता है और ब्रह्मचर्यव्रत भी भंग हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्यव्रत के स्वरूप को जान, इसकी रक्षा करना ही योग्य है। भव्यात्माओं को चाहिए कि कुशील सेवन को घोर अन्याय तथा महान् पाप का कारण जान त्याग करें और शील व्रत को पुण्य प्राप्ति तथा कर्मों के क्षय का कारण जान ग्रहण करें।

परिग्रह परिमाण व्रत

यामूर्च्छानामेदं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषः।
मोहोदयादुदीर्णो मूर्च्छा तु ममत्वपरिणामः ॥१११॥

मूर्च्छा ही परिग्रह है, मोह के उदय से भावों का ममत्वरूप परिणमन होना ही मूर्च्छा है। परिग्रह का यह लक्षण अव्याप्ति या

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अतिव्याप्ति दूषण से रहित है।

मूर्च्छा लक्षणकरणात् सुघटा व्याप्तिः परिग्रहत्वस्य ।
सग्रन्थो मूर्च्छावान् विनापि किल शेष संगेभ्यः ॥११२॥

यदि कोई पुरुष सर्वथा नग्न है, अर्थात् सर्व प्रकार के वाह्य परिग्रहसे रहित है, परन्तु अन्तरङ्ग में मूर्छा मौजूद है तो वह पुरुष परिग्रहवान ही कहलायेगा, परिग्रह रहित नहीं कहला सकता, क्योंकि जहाँ जहाँ मूर्छा होती है, वहाँ वहाँ परिग्रह अवश्य होता है। इसलिये परिग्रह का उपर्युक्त लक्षण अव्याप्ति दूषण से रहित है।

यद्येवं भवति तदा परिग्रहो न खलु कोपि बहिरङ्ग ।
भवति नितरां यतोऽसौ धत्ते मूर्छा मिमित्तत्वम् ॥११३॥

यहाँ कोई कहे कि यदि मूर्च्छा ही परिग्रह का लक्षण है, तो वाह्य धन धान्यादिक पदार्थों में परिग्रहत्व सिद्ध नहीं होगा इसका उत्तर यह ही है, कि वाह्य पदार्थ धन धान्य आदिक ही मूर्छा की उत्पत्ति के कारण हैं। इस लिए कारण में कार्य के उपचार से वाह्य पदार्थों में परिग्रहत्व सिद्ध होता है।

एवमतिव्याप्ति स्यात्परिग्रहस्येति चेद्भवेन्नैवम् ।
यस्मादकषायाणां कर्मग्रहणे न मूर्च्छास्ति ॥११४॥

यहाँ फिर कोई प्रश्न करे कि यदि वाह्य पदार्थों को मूर्च्छा का अवश्य कारण मानते हो तो परिग्रह के लक्षण में अतिव्याप्ति दूषण आता है। वीतरागी, निःपरिग्रही महान पुरुषों के कार्माण वर्गणायें ग्रहण करने में मूर्च्छा होगी, जिस को परिग्रह कह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सकेंगे ? इस का उत्तर यह है कि मोह के सर्वथा अभाव होजाने के कारण वीतराग निःपरिग्रही महान पुरुषों के कार्माण वर्गणाओं के ग्रहण करने में मूर्च्छा का सर्वथा ही अभाव है। और जहाँ मूर्च्छा नहीं है, वहाँ परिग्रह नहीं है। जहाँ परिग्रह है, वहाँ मूर्च्छा अवश्य है। इस प्रकार परिग्रह का उपर्युक्त लक्षण अतिव्याप्ति दूषण से भीं रहित है।

अति संक्षेपाद् द्विविधः स भवेदाभ्यन्तरश्च बाह्यश्च।
प्रथमश्चतुर्दशविधो भवति द्विविधो द्वितीयस्तु ॥११५॥

परिग्रह दो प्रकार का होता है, एक अंतरङ्ग, दूसरा बहिरङ्ग परिग्रह।

मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षड्दोषः।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तराग्रन्थाः ॥११६॥

अन्तरंग परिग्रह के १४ भेद हैं—१. मिथ्यात्व, २. स्त्रीवेद, ३. पुरुष-वेद, ४. नपुंसक-वेद ५. हास्य, ६. रति, ७. अरति, ८. शोक, ९. भय, १०. जुगुप्सा, ११. क्रोध, १२. मान, १३. माया, १४. लोभ।

अथ निश्चित्तसचित्तौ बाह्यस्य परिग्रहस्य भेदौ द्वौ।
नैषः कदापि सङ्गः सर्वोऽप्यतिवर्तते हिंसाम् ॥११७॥

बहिरंग के परिग्रह के भी चेतन अचेतन दो भेद हैं। सोना, चांदी, मकान, जमीन, वस्त्राभूषण, आदिक पदार्थ अचेतन परिगृह कहलाते हैं। और पुत्र, स्त्री, दासी, दास, घोड़ा, हाथी, आदि पदार्थ चेतन परिगृह हैं। कोई भी परिग्रह किसी समय हिंसा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से खाली नहीं होता, अर्थात् परिगृह सदैव ही हिंसा रूप है।

उभय परिग्रहवर्ज्जनमाचार्याः सूचयन्त्यहिंसेति।
द्विविध परिग्रहवहनं हिंसेति जिनप्रवचनज्ञाः ॥११८॥

जैन सिद्धान्तानुसार अन्तरंग,बहिरंग दोनों प्रकार के परिगृह का त्याग अहिंसा है, और दोनों प्रकार के परिगृह का अंगीकार करना हिंसा है।

हिंसा पर्य्यायत्वात्सिद्धा हिंसान्तरङ्गसङ्गेषु।
वहिरंगेषु तु नियतं प्रयातु मूर्छैव हिंसात्वम् ॥११९॥

ऊपर कहे हुए अन्तरंग के परिगृह के १४ भेद तो सर्व ही हिंसा की पर्याय हैं, क्योंकि वे विभाव परिणाम हैं। इसलिए अंतरंग परिगृह तो आपही हिंसारूप है। बहिरंग परिगह भी ममत्व भाव के विना अंगीकार नहीं किया जाता, इसलिए उसमें भी हिंसा है। ममत्व परिणामों के कारण ही तो परिगृह होता है, अन्यथा नहीं। केवली भगवान के समवसरण आदि विभूति होती है, परन्तु ममत्व के अभाव के कारण, वह परिग्रह संज्ञा नहीं पाती।

एवं न विशेषः स्यादुन्दररिपुहरिणशावकादीनाम्।
नैवं भवति विशेषस्तेषां मूर्छा विशेषेण ॥१२०॥

यहां कोई प्रश्न करे कि यदि बहिरंग में ममत्व परिणाम का ही नाम परिगृह है, तो चूहे के शत्रु बिलाव, और हरिण के बच्चे आदिक जीवों में खास कोई फ़र्क (विशेषता) न होगी? ऐसा नहीं है, क्योंकि ममत्व परिणामों के फ़र्क के कारण इन जीवों में विशेषता अर्थात् फ़र्क है समानता नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हरित तृणाङ्कुरचारिणिमन्दा मृगशावके भवति मूर्छा।
उन्दर निकरोन्माथिनिमार्ज्जारेसैव जायतेतीव्रा ॥१२१॥

हरी दूब के चरने वाले हरिण के बच्चे में तो मूर्छा-मन्द होती है, क्योंकि प्रथम ही तो हरिण हरी दूब को ज्यादह लोलुपता के साथ तलाश ही नहीं करता, दूसरे यदि उसको दूब मिल भी जाती है तो खाते समय उसके बहुत सरागता नहीं होती। जरासी भी आहट आदि कारण पाने पर तुरन्त ही छोड़ कर भाग जाता है। इस प्रकार उसके ममत्व परिणाम थोड़े हैं। चूहों के समूह को विध्वंश करने वाले बिलाव में वही मूर्छा तीव्र रूप होती है, प्रथम ही तो वह अपने शिकार को बड़ी लोलुपता से तलाश करता है, फिर शिकार के मिल जाने पर उसका बड़ी सरागता पूर्वक घात करता है, और संहार करते समय यदि उसके सिर पर लाठियें भी पड़ती हैं, तो भी वह उस शिकार को नहीं छोड़ता है। इस प्रकार बिलाव के ममत्व परिणाम तीव्र होते हैं।

यह दो उदाहरण मन्द मूर्छा और तीव्र मूर्छा के दिये गए हैं। ठीक इसी प्रकार बहु आरम्भी, बहु परिग्रही और तुच्छ आरंभी, तुच्छ परिग्रही के परिणामों का भी फ़र्क जान लेना चाहिये।

निर्बाधं संसिध्येत्कार्यविशेषो हि कारणविशेषात्।
औधस्य खण्डयोरिह माधुर्य्य प्रीतिभेद इव ॥ १२२ ॥
माधुर्य्यप्रीतिः किल दुग्धे मन्दैव मन्द माधुर्य्ये।
सैवोत्कटमाधुर्य्ये खण्डे व्यपदिश्यते तीव्रा ॥१२३॥

यह बात भली प्रकार निश्चित है कि कारण की विशेषता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से कार्य भी विशेष रूप होता है। थोड़े मिठास वाले दूध में मिठास की रुचि थोड़ी ही कही जाती है, और वही रुचि बहुत मिठास वाली खांड में अधिक कही जाती है। जैसे दूध में मिठास थोड़ा होता है, और खांड में ज्यादह मिठास होता है, तो मिष्टरस का लोलुपी पुरुष थोड़ी मिठास के कारण दूध से कम प्रीति करता है, और ज्यादह मिठास के कारण खांड से ज्यादह प्रीति करता है। इसी प्रकार बाह्य कारणों के अनुसार ही अंतरंग परिणाम हुआ करते हैं।

यदि आरम्भ परिगृह बहुत होता है, तो ममत्व भी बहुत होता है, और यदि आरम्भ परिगृह थोड़ा होता है तो ममत्व भी थोड़ा होता है, किसी पुरुष के वर्तमान समय में परिगृह थोड़ा होते हुए भी, अभिलाषा रूप ममत्व परिणाम ज्यादह होते हैं, तो वह आगामी काल में बाह्य परिगृह होने का संकल्प करता है और यह ममत्व भाव है। यदि कोई पुरुष बाह्य परिगृह को तो अंगीकार करता जावे और कहे कि मेरे अन्तरंग में ममत्व भाव नहीं है, तो यह ग़लत है, क्योंकि बिना ममत्व के परिगृह का गृहण सर्वथा नहीं हो सकता। इस वास्ते ममत्व परिणामों के नाश के लिए बाह्य परिगह का भी त्याग जरूरी है।

तत्वार्थाश्रद्धाने निर्युक्तं प्रथममेव मिथ्यात्वम्।
सम्यक् दर्शन चौराः प्रथमकषायाश्च चत्वारः ॥१२४॥

प्रविहायच द्वितीयान् देशचरित्रस्य सन्मुखायातः।
नियतं ते हि कषायाः देशचरित्रं निरुन्धन्ति ॥१२५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निजशक्त्या शेषाणां सर्वेषामन्तरंग संगानाम् ।
कर्तव्यः परिहारो मार्दवशौचादि भावनया ॥ १२६ ॥

कषाय चार हैं, क्रोध, मान, माया, लोभ। इन चारों में से हर एक के चार २ भेद होते हैं—अनन्तानुवन्धी, अप्रत्यख्यानावरणीय, प्रत्याख्यानावरणीय, सञ्ज्वलन। इस प्रकार इन चारों कषायों के १६ भेद होते हैं।

यह पहले बता चुके हैं, कि तत्वार्थ के श्रद्धान न होने का नाम ही मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व के आभव होने पर और सम्यक् दर्शन के प्रकट होने पर कषायों की पहली चौकड़ी अर्थात् अनन्तानुवन्धी क्रोध, अनन्तानुवन्धी मान, अनन्तानुवन्धी माया और अनन्तानुवन्धी लोभ तो विदा ही हो जाते हैं, क्योंकि यह सम्यक् दर्शन के चोर हैं। इनके होते सम्यकत्व की प्राप्ति नहीं होती। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि अनन्तानुवन्धी की चौकड़ी के क्षय हुए बिना या उपशम हुवे बिना सम्यक् दर्शन नहीं हो सकता। इनको अनन्तानुवन्धी भी इसी कारण कहा जाता है कि इनके होने से मिथ्यात्व होता है और मिथ्यात्व अनन्त संसार का कारण है। इनकी वासना भी अनन्तकाल तक रहती है। अप्रत्यख्यानावरणी—अ, ईषत, थोड़ा + प्रत्याख्यान, त्याग + आवरण = परदा, रुकावट डालने वाला। अप्रत्याख्यानावरणी कषायों की मौजूदगी में श्रावक का एकोदेश चारित्र नहीं हो सकता। कषायों की यह दूसरी चौकड़ी निश्चय पूर्वक एकोदेश चारित्र को रोकती है और इसीलिए इनको अप्रत्याख्यानावरणी कहते हैं। इनकी वासना छह महीने तक रहती है।

प्रत्याख्यानावरणी—क्रोध, मान, माया, लोभ सकल-संयम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थात् मुनि चारित्र को रोकते हैं। कषायोंकी इस चौकड़ी के नाश से ही मुनिपद प्राप्त होता है इस चौकड़ी का वासना काल एक पक्ष का है।

संज्वलन कषाय—संयम के साथ दैदीप्यमान रहती है। संज्वलन कषाय की चौकड़ी और हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और स्त्रीवेद पुरुषवेद, नपुंसकवेद इनके नाश से यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति होती है। इस वास्ते जहां तक बन सके इन सबका त्याग ही करना चाहिये। जो न बने तो श्रावक धर्म में मिथ्यात्व अनन्तानुवन्धी कषाय की चौकड़ी अप्रत्याख्यानावरणी कषाय की चौकड़ी का त्याग तो सर्वथा ही करना चाहिये। और बाक़ी जो और अन्तरंग के परिग्रह हैं, उनका भी यथाशक्ति त्याग करना चाहिये।

बहिरंगादपि संगाद्यस्मात्प्रभवत्य संयमोऽनुचितः।
परिवर्ज्जयेदशेषं तमचित्तं वा सचित्तं वा ॥ १२७ ॥
योऽपि न शक्यस्त्यक्तुं धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादि।
सोऽपि तनूकरणीयो निवृत्ति रूपं यतस्तत्त्वम् ॥ १२८ ॥

वाह्य परिग्रह के त्याग बिना, संयम, चारित्र का पालन नहीं हो सकता। इसी कारण चेतन, अचेतन दोनों प्रकार के परिग्रह का सर्वथा त्याग करना ही जीव के लिये कल्याणकारी है, परन्तु जो पुरुष सर्वथा त्याग नहीं कर सकते, उन्हें जहां तक भी हो सके परिगृह का त्याग ही करना चाहिये।

तत्व त्यागरूप ही है। जितना २ त्याग होता जाता है, उतना उतना ही आत्म स्वरूप प्रकट होता जाता है। इस प्रकार होते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होते जिस समय सर्वथा त्याग हो जाता है, तब ही आत्मा मुक्त हो जाता है। इसी कारण मुक्ति का नाम निवृत्ति भी है।

वास्तुक्षेत्राष्टाप दहिरण्य धनधान्य दासदासीनाम् ।
कुप्यस्य भेदयोरपि परिमाणातिक्रिमाः पंच ॥ १८७ ॥

परिग्रह परिमाण अणु व्रत के ५ अतिचार हैं। १ क्षेत्र वास्तु, २ हिरण्य, सुवर्ण, ३ धन धान्य, ४ दासी दास, ५ कुप्य भाण्ड। इन पांचों के परिमाण को उल्लंघन करना परिग्रह परिमाण अणुव्रत के पांच अतिचार हैं। वास्तु—रहने के घर मकान आदि (सकनी जायदाद), क्षेत्र—धान्य आदि उपजने के स्थान (ज़रई ज़मीन); हिरण्य—रुपये, चांदी वगैरह, सुवर्ण—सोना, सोने के गहने, सिक्के आदि, धन—गौ, बैल, भैंस आदि, धान्य—गेहूं चने, चावल आदि; दासी दास-टहल करने वाले चाकर, बांदी आदि; कुप्य, भाण्ड-वस्त्र, बर्तन, चन्दन आदि इस प्रकार ये ५ जोड़े होते हैं, तब जिसने उपर्युक्त १० प्रकार की परिग्रह का नियम किया है, वह ५ जोड़े में हर एक में एक को घटाकर दूसरे को बढ़ा ले, सो अतिचार है। जैसे ज़मीन ज़रई (क्षेत्र) १० बीघा थी और मकान दो थे। मकान ३ कर लिये और ज़मीन ६ बीघा कर ली— यह अतिचार है।

रात्रि भोजन त्याग

रात्रौ भुञ्जानानां यस्मादनिवारिता भवति हिंसा ।
हिंसा विरतैस्तस्मात्त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि ॥ १२९ ॥

जो जीव रात्रि में भोजन करते हैं, वे अवश्य ही हिंसा के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भागी होते हैं। इस वास्ते जो हिंसा के त्यागी होते हैं, उन्हें रात्रि में भोजन करने का अवश्य ही त्याग करना चाहिये।

रागाद्युदय परत्वादनिवृत्तिर्नातिवर्तते हिंसाम् ।
रात्रिंदिवमाहरतः कथं हि हिंसा न सम्भवति ॥ १३० ॥

जिस जीव के तीव्र राग भाव होते हैं, वह त्याग नहीं कर सकता। जिनको भोजन से अधिक रागभाव हुआ करता है, वह ही रात दिन भोजन किया करते हैं, और जहां रागभाव होता है, वहां हिंसा अवश्य ही होती है।

यद्येवं तर्हि दिवा कर्तव्यो भोजनस्य परिहारः ।
भोक्तव्यं तु निशायां नेत्थं नित्यं भवति हिंसा ॥१३१॥
नैवं वासरभुक्तेर्भवति हि रागोऽधिको रजनिभुक्तौ ।
अन्नकवलस्य भुक्तेर्भुक्ताविव मांसकवलस्य ॥१३२॥
अर्कालोकेन विना भुञ्जानः परिहरेत् कथं हिंसाम् ।
अपि वोधित प्रदीपे भोज्यजुषां सूक्ष्मजीवानाम् ॥१३३॥
किं वा बहुप्रलपितैरिति सिद्धं यो मनो वचनकायैः ।
परिहरति रात्रिभुक्तिं सततमहिंसां स पालयति ॥१३४॥
इत्यत्र त्रितयात्मनि मार्गे मोक्षस्य ये स्वहितकामाः ।
अनुपरतं प्रयतन्ते प्रयान्ति ते मुक्तिमचिरेण ॥१३५॥

यहां कोई प्रश्न करे, कि यदि सदाकाल भोजन करने में हिंसा होती है, तो दिन में भोजन मत करो। रात्रि में भोजन कर लो। केवल रात्रि में आहार करने से सदाकाल हिंसा नहीं होगी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसका उत्तर यह है कि ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि उदर-पूर्ति की अपेक्षा तो सब ही भोजन बराबर है, परन्तु अन्न के भोजन ने जैसे साधारण भाव होते हैं, वैसे मांस भोजन में नहीं होते; अन्न का भोजन तो सर्व जीवों को ही सहज मिलता है। मांस भोजन में रागभाव अधिक होते हैं, मांस भोजन कामादि की अपेक्षा अथवा शरीर मोह की अपेक्षा विशेष रागपूर्वक किया जाता है। इसी प्रकार दिन के भोजन में तो साधारण रागभाव होता है और रात्रि में भोजन शरीरादि की अपेक्षा अथवा कामादि की अपेक्षा रागभाव अधिक ही होता है। इसी वास्ते रात्रि का भोजन त्यागने योग्य है। रात्रि भोजन करने में द्रव्य हिंसा भी बहुत होती है। रात्रि में यदि चिराग़ न जलाया जावे तो अन्धेरे में भोजन करते समय बड़े बड़े जीवों की भी ख़बर नहीं रहती, और यदि चिराग़ जला लिया जावे, तो रोशनी से खिचकर नाना प्रकार के अनेक छोटे बड़े कीट, पतंग आदिक जीव एकत्र हो जाते हैं, भोजन में गिर पड़ते हैं। जिन जीवों का इस प्रकार घात होता है, उनकी हिंसा अवश्य ही होती है। इसलिए रात्रि भोजन करने वाला अवश्य ही हिंसा का भागी होता है। रात्रि भोजन का त्याग किये बिना अहिंसा व्रत की सिद्धि नहीं होती। इसी कारण किसी आचार्य ने तो इसको अहिंसाणुव्रत में ही गर्भित कर दिया है और किसी किसी ने इसको जुदा ही छठा अणुव्रत कह दिया।

श्रावक की ११ प्रतिमायें हैं, उनमें से छठी प्रतिमा में प्रवेश होने पर नियम रूप से सर्वथा रात्रि को भोजन करने कराने का त्याग होता है। इसके पहले पांच प्रतिमाओं तक जल पानादिक का त्याग जितना बने उतना करे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सप्त शील व्रत

परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्तिशीलानि।
व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि ॥ १३६ ॥

पांच अणुव्रतों का वर्णन करने के बाद, अब सप्त शील व्रतों का वर्णन करते हैं। जैसे किसी नगर की रक्षा के लिये कोट (फ़सील) बनाया जाता है, उसी प्रकार तीन गुण व्रत और चार शिक्षा व्रत, सप्त शील व्रतों का पालन करना भी पंच अणुव्रतों के पालन के निमित्त अवश्य बतलाया गया है।

प्रविधाय सुप्रसिद्धैर्मर्यादां सर्वतोप्यभिज्ञानैः।
प्राच्यादिभ्योदिग्भ्यः कर्तव्याविरतिरविचलिता ॥१३७॥

दिग्व्रत—इस व्रत में उत्तर, पूर्व, पश्चिम, ईशान, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, अधो और ऊर्ध्व, इन दसों दिशाओं में गमन करने का परिमाण जीवन भर के लिये किया जाता है। यह परिमाण किसी प्रसिद्ध नगर, पर्वत, दरिया आदिक स्थानों की हद को लिये होता है। जैसे किसी पुरुष ने परिमाण किया कि पूर्व में वह देहली से आगे यावज्जीव नहीं जावेगा; तो वह दिग्व्रत का पालन करते हुए देहली से आगे पूर्व दिशा में कभी नहीं जावेगा। इसी प्रकार अन्य दिशाओं का भी जानना। पर्वतादि पर चढ़ने की अपेक्षा ऊर्ध्व दिशा का और कूप, खान, समुद्र आदि में नीचे उतरने की अपेक्षाअधो दिशा का परिमाण कर लेना बतलाया गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इति नियमितदिग्भागे प्रवर्तते यस्ततो बहिस्तस्य ।
सकलासंयमविरहाद्भवत्यहिंसा व्रतं पूर्णम् ॥१३८॥

जो पुरुष जितने क्षेत्र का परिमाण करता है, वह उतने ही क्षेत्र के अन्दर अन्दर, थोड़ा बहुत पंच पापरूप असंयम में प्रवृत्तक है, उससे बाहर के क्षेत्र की अपेक्षा तो वह सकल संयमी ही हो जाता है। इस वास्ते दिग्व्रत नाम गुण व्रत का धारण करना आवश्यक है।

ऊर्द्ध्वमधस्तात्तिर्य्यग्व्यतिक्रमाः क्षेत्रवृद्धिराधानम् ।
स्मृत्यन्तरस्य गदिताः पञ्चेति प्रथमशीलस्य ॥१८८॥

दिग्व्रत के ५ अतिचार हैं। १—ऊर्ध्वातिक्रम-परिमाण से ज्यादह चऊँाई के वृक्ष, पर्वतादिकों पर चढ़ना। २—अधोतिक्रम-परिमाण से अधिक निचाई के कुंयें, बावड़ी, समुद्र में उतरना। ३—तिर्यक् अतिक्रम-विल, पर्वतादि की गुफाओं, सुरंगों आदि में टेढ़ा जाना। ४—क्षेत्र वृद्धि-परिमाण की हुई दिशाओं के क्षेत्र से अधिक क्षेत्र बढ़ा लेना। ५—स्मृत्यन्तराधान-दिशाओं की, की हुई मर्यादा को भूल जाना।

तत्रापि च परिमाणं ग्रामापणभवनपाटकादीनाम् ।
प्रविधाय नियतकालं करणीयं विरमणं देशात् ॥१३९॥
इति विरतो बहुदेशात् तदुत्थहिंसा विशेषपरिहारात् ।
तत्कालं विमलमतिः श्रयत्यहिंसां विशेषण ॥१४०॥

दिग्व्रत में जितने क्षेत्र की मर्यादा की जाती है, देश व्रत में उस ही क्षेत्र के अन्दर अन्दर काल की मर्यादा को लिये हुए,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और भी थोड़े क्षेत्र का परिणाम किया जाता है। जैसे किसी ने प्रतिज्ञा की कि मैं देहली सूबे से बाहर कदापि जीवन भर नहीं जाऊँगा, यह दिग्व्रत हुआ। और फिर आगे वह यह और प्रतिज्ञा करता है कि मैं खास देहली शहर से बाहर एक मास तक कहीं नहीं जाऊँगा, या देहली के किसी खास मुहल्ले से बाहर १५ दिन तक नहीं जाऊँगा। यह देशव्रत है। दिग्व्रत और देशव्रत में यही ही अन्तर है कि दिग्व्रत तो सदाकाल के लिये अर्थात् यावज्जीव होता है और देशव्रत में काल की मर्यादापूर्वक वर्ष, छह महीने पन्द्रह दिन, १ दिन, घण्टे, घड़ी, मिनट आदि के लिये त्याग किया जाता है, और देश व्रत में दिग्व्रत की अपेक्षा क्षेत्र भी थोड़ा होता है। देश व्रत में जितने काल के लिये जितने थोड़े क्षेत्र का परिमाण किया जाता है। उस काल के लिये बाक़ी बाहर के क्षेत्र की अपेक्षा तो-सक़ल संयमी ही हो गया। देश व्रत, दिग्व्रत के भीतर ही किया जाता है। इस प्रकार देशव्रत के धारण करने से विशेष हिंसा का त्याग होता है।

प्रेष्यस्य सम्प्रयोजनमानयनं शब्दरूपविनिपातौ।
क्षेपोऽपि पुद्गलानां द्वितीयशीलस्य पञ्चेति ॥१८९॥

देश व्रत के ५ अतिचार हैं। १—प्रेष्य प्रयोग-परिमाण किये हुए क्षेत्र से बाहर आप न जाकर दूसरे मनुष्य सेवकादिकों को भेजना। २—आनयन-मर्यादा से बाहर के क्षेत्र की वस्तुएँ मँगाना। ३—शब्दानुपात-मर्यादा से बाहर के क्षेत्र में तिष्टे हुए पुरुष को शब्द सुना कर अपना अभिप्राय समझा देना। ४—रूपानुपात परिमाण किये क्षेत्र से बाहर तिष्टते हुए पुरुष को अपना रूप दिखाकर अथवा इशारों से समझाकर काम करना। ५—पुद्गल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्षेप-मर्यादा से बाहर के क्षेत्र में कंकर पत्थर आदि फेंक कर इशारा करना।

अनर्थ दंड व्रत

व्यर्थ ही निष्प्रयोजन पाप करने को अनर्थ—दंड कहते हैं, और व्यर्थ पाप करने के त्याग को अनर्थ—दंड व्रत कहते हैं। इसके स्थूलरूप से पाँच भेद हैं, जो आगे संक्षेप से वर्णन किये जाते हैं।

पापर्द्धिजयपराजयसङ्गरपरदारगमनचौर्याद्याः ।
न कदाचनापि चिन्त्याः पापफलं केवलं यस्मात् १४१

अपध्यान अनर्थ दंड व्रत—शिकार-जय, पराजय, पर स्त्री-गमन, पर द्रव्यहरण आदिक का कभी किसी समय भी चिन्तवन नहीं करना चाहिये। विना प्रयोजन नाना प्रकार के पाप सम्बन्धी विकल्प करने से अपने तो किसी कार्य की सिद्धि नहीं होती पाप बंध अवश्य तीव्र हो जाता है। इस प्रकार के पापरूप विकल्पों के त्यागने का नाम ही अपध्यान अनर्थ दंड व्रत है।

विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पजीविनां पुंसाम् ।
पपोपदेशदानं कदाचिदपि नैव वक्तव्यम् ॥ १४२ ॥

पापोपदेश अनर्थ दंड व्रत—बिना प्रयोजन किसी पुरुष को आजीविका के कारण, विद्या, वाणिज्य, लेखन कला, खेती, नोकरी और शिल्प आदिक नाना प्रकार के काम तथा हुनर करने का उपदेश देना, पापोपदेश अनर्थ दंड कहलाता है। ऐसे उपदेश से अपने को तो कोई लाभ होता नहीं, पाप का बन्ध अवश्य हो जाता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। पपोपदेश अनथ दंड के त्याग का ही नाम पापोपदेश अनर्थ दंड व्रत है।

भूखननवृक्षमोट्टनशाड्वलदलनाम्बुसेवनादीनि ।
निष्कारणं न कुर्याद्दलफलकुसुमोच्चयानपि च ॥१४३॥

प्रमादचर्या अनर्थ दंड व्रत—बिना प्रयोजन ज़मीन का खोदना वृक्षादिक को उखेड़ना, दूब आदिक हरी घास को रौंदना, या खोदना, पानी खींचना, फल फूल पत्रादिक का तोड़ना इत्यादिक पाप क्रियाओं का करना प्रमादचर्या अनर्थ दंड है।

गृहस्थी त्रस जीवों की तो रक्षा नियम पूर्वक करता ही है, बिना प्रयोजन स्वार्थ के वस में हो कर स्थावर जीवों की भी हिंसा नहीं करनी चाहिये। विचार पूर्वक ही कार्य करना चाहिये। ऊपर कही हुई पाप क्रियाओं का त्याग करना ही प्रमादचर्या अनर्थ दंड व्रत कहलाता है।

असिधेनुविषहुताशनलाङ्गलकरवालकार्मुकादीनाम् ।
वितरणमुपकरणानां हिंसायाः परिहरेद्यत्नात् ॥१४४॥

हिंसा प्रदान अनर्थ दंड व्रत—खड्ग, बर्छी, छुरी, तलवार, बन्दूक, पिस्तौल, जहर, अग्नि, तीर, भाला, करौंत, कस्सी कुदाल आदि अनेक हिंसा के उपकरणों को दूसरे पुरुषों को मगा देने का त्याग करना, हिंसा प्रदान अनर्थ दंड व्रत है। हिंसा के जिन उपकरणों बिना अपना काम न चले, उनको अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये रख लेवे, परन्तु बिना प्रयोजन दूसरों को न देवे, क्योंकि ऐसा करने से हिंसा का भागी व्यर्थ ही बनना पड़ता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रागादिवर्द्धनानां दुष्टकथानामबोधबहुलानाम् ।
न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जनशिक्षणादीनि ॥१४५॥

दुःश्रुति अनर्थ दंड व्रत---रागद्वेष, मोह आदिक विभाव भावों के बढ़ाने वाली, अज्ञान भाव से भरी हुई दुष्ट कथाओं को सुनना, बनाना, एकत्रित करना,या सीखना आदि का त्याग करने का नाम दुःश्रुति अनर्थ दंड व्रत है। दुष्ट शृंगारादि, तथा रागादि की वार्तारूप, रागद्वेष बढ़ाने वाली कथाओं के सुनने में, बनाने में कोई धर्म नहीं होता, व्यर्थ ही उपयोग लगाना पड़ता है। पापरूप कथन होने के कारण उपयोग भी पापरूप हो जाता है। पाप का बन्ध होता है, जिसका फल भोगना पड़ता है। इसी कारण खोटी पापरूप कथाओं का सुनना,संग्रह करना,सीखना इत्यादिक सब ही बातें त्यागने योग्य ही हैं।

सर्वानर्थप्रथमं मथनं शौचस्य सद्ममायायाः ।
दूरात्परिहरणीयं चौर्य्यासत्यास्पदं द्यूतम् ॥१४६॥

आगे आचार्य बताते हैं कि जुआ भी एक प्रकार का अनर्थ है, इसका भी त्याग करना चाहिये, जुआ समस्त अनर्थों का सर्दार है। सन्तोष का नाश करने वाला, मायाचारी का घर और चोरी तथा झूठ का अड्डा है।

एवंविधमपरमपि ज्ञात्वा मुञ्चत्यनर्थदण्डं यः ।
तस्यानिशमनवद्यं विजयमहिंसाव्रतं लभते ॥ १४७ ॥

सारांश यह है कि जुआ खेलने में पाप का बन्ध अधिक होता है। इसलिये विवेकवान पुरुषों को इसे दूर से ही त्याग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देना चाहिये। जो पुरुष इस प्रकार और भी अनर्थ दण्डों को जान कर उनका त्याग कर देते हैं, वह निरन्तर अहिंसा व्रत का निर्दोष पालन करते हैं।

कन्दर्पः कौत्कुच्यं भोगानर्थक्यमपि च मौखर्य्यम्।
असमीक्षिताधिकरणं तृतीयशीलस्य पञ्चेति ॥१६०॥

अनर्थ दण्ड वृत के पांच अतिचार हैं। कंदर्प—राग भाव की अधिकता से हास्य मिश्रित भंड बचन बोलना। कौत्कुच्य—राग भाव की तीव्रता से हास्य अशिष्ट भंड बचन बोलना और साथ में ही काय से भी निन्दनीय क्रिया करना। मौखर्य-धीठता से व्यर्थ ही प्रलाप करना, बकवास करना। असमीक्ष्याधिकरण—प्रयोजन के विना विचारे अधिकता से प्रवर्तन करना। (कार्य करना)।

उपभोगपरि भोगनर्थक्य—भोगोपभोग के जितने पदार्थों से अपना काम चल सके उनसे ज्यादह का संग्रह करना। इन उपर्युक्त तीन शील व्रतों को गुण व्रत कहते हैं और इस लिए कहते हैं कि यह अणुव्रतों का मूल्य गुणन रूप बढ़ा देते हैं। दिग्व्रत में मर्यादा करने से मर्यादा से बाहर के क्षेत्र का सब पाप टला। देशव्रत में क्षेत्र घटाया तब और भी पाप टला। नियमित क्षेत्र में भी बे मतलब पाप न किया तब और भी पाप टला अब आगे शिक्षा व्रतों का वर्णन करते हैं।

रागद्वेष त्यागान्निखिल द्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य।
तत्त्वोपलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यम् ॥ १४८ ॥

सामायिक—समस्त ही इष्ट अनिष्ट पदार्थों में राग द्वेष

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावों का त्याग कर, समताभाव को ग्रहण कर, बारम्बार शुद्ध चैतन्य स्वरूप की प्राप्ति का मूल कारण, सामायिक करना चाहिये समय=सम, एक रूप होकर+अयं:, स्वरूप में मगन करना; अर्थात् एक रूप होकर निज स्वरूप में गमन करने का नाम समय है। और जिस का प्रयोजन "समय" है, वह सामायिक है। इस प्रकार साम्यभाव का नाम ही सामायिक है। अपने को सुखदायी इष्ट वस्तु में राग न करने, और अपने को दुःखदायी अनिष्ट वस्तु में द्वेष न करने को साम्यभाव कहते हैं, इस साम्य-भाव के होने पर निज शुद्ध चेतन स्वरूप में मग्न होना ही परम कर्तव्य है। यदि यह न बन सके तो शुभोपयोग रूप भक्ति या तत्व विचार में प्रवृत्ति करना योग्य है, अथवा सामायिक सम्बन्धी दो नमस्कार, बारा आवर्त्त, चार शिरोनति, आदिक क्रिया काण्ड के करने में तत्पर होना चाहिये। नमस्कार—अंगों को धरती से लगा कर मस्तक के नवाने को नमस्कार कहते हैं। दोनों हाथों को जोड़ कर अपने बायें से दाहनी ओर घुमाने को आवर्त्त कहते हैं। आवर्त्त में जोड़े हुवे हाथों पर अपने मस्तक के झुकाने को शिरोनति कहते हैं।

सामायिक की विधि—सामायिक करते समय प्रथम ही तो ईर्या पथ की शुद्धि करे, फिर पूर्व में या उत्तर में मुंह करके हाथ लटका कर खड़ा होवे नौ बार णमोकार मंत्र अपने मन में पढ़े और फिर मस्तक भूमि में लगाकर नमस्कार करे और मन में यह प्रतिज्ञा करे कि जब तक सामायिक में हूँ. जो कुछ मेरे पास है उसके सिवाय अन्य सर्व परिग्रह का त्याग करता हूं। फिर कायोत्सर्ग खड़ा होकर नौ बार या तीन बार णमोकार मंत्र पढ़े, तीन आवर्त्त और एक शिरोनति करे। फिर अपने दाहने की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ओर खड़ा खड़ा हाथ लटकाये हुवे मुड़ जावे। इस ओर भी तीन बार या नव बार णमोकार मन्त्र पढ़ तीन आवर्त्त और एक शिरोनति करे। इसी प्रकार शेष अन्य दो दिशाओं में भी करे। बाद में जिधर पहले मुंह करके खड़ा हुआ था, उधर ही मुंह करके बैठ जावे। पद्मासन या पल्यंकासन जमा लेवे या कायोत्सर्ग ही रहे। फिर काल का प्रमाण कर साम्यभाव संयुक्त शुभोपयोग रूप या शुद्धोपयोग रूप रहे, अर्थात् सामायिक पाठ पढ़े, जाप करे, या ध्यान का अभ्यास करे। इस प्रकार काल पूर्ण हो जाने पर जब पाठ, जाप ध्यान समाप्त हो जावे तो कायोत्सर्ग में खड़ा हो जावे, या खड़ा होवे तो वैसे ही नव बार णमोकार मन्त्र पढ़े और अन्तिम दण्डवत् कर सामायिक को पूर्ण करे। सामायिक के साधन से सहज स्वरूपानन्द की प्राप्ति होती है।

रजनी दिनयोरन्ते तदवश्य भावनीयमविचलितम्।
इतरत्र पुनः समये न कृतं दोषायतद्गुणाय कृतम् ॥१४६॥

गृहस्थ के लिए एक दिन में कम से कम दो बार दोनों सन्ध्याओं के समय, चित्त की एकाग्रता पूर्वक सामायिक करना जरूरी है। इन दोनों सन्ध्याओं के सिवाय यदि किसी और समय में भी सामायिक की जावे तो कोई निषेध नहीं है। सामायिक के लिये योग्य क्षेत्र, योग्य काल, योग्य आसन, योग्य विनय और इनके अतिरिक्त मन, बचन, काय की शुद्धि की बड़ी आवश्यकता है। यह मनुष्य के भाव निर्मल और निश्चल करने में सहकारी होते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सामायिकं श्रितानां समस्त सावद्ययोगपरिहारात् ।
भवति महाव्रतमेषामुदयेऽपि चरित्र मोहस्य ॥ १५० ॥

सामायिक करते समय समस्त पाप क्रियाओं का त्याग होता है। सामायिक के समय श्रावक के यद्यपि प्रत्याख्यानावरण चारित्र मोहनी का उदय होता है, परन्तु समस्त पाप क्रियाओं का सर्वथा त्याग होने के कारण महा व्रती सरीखा ही है।

सामायिकसंस्कारं प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकर्तुम् ।
पक्षार्द्धयोर्द्वयोरपि कर्तव्योऽवश्यमुपवासः ॥ १५१ ॥

रोज़ाना सामायिक की स्थिरता के लिए शुक्ल तथा कृष्ण पक्ष की अष्टमी और चतुर्दशी के दिन उपवास भी अवश्य ही करना चाहिये।

वचनमनः कायानां दुःप्रणिधानं त्वनादरश्चैव ।
स्मृत्यनुपस्थान युताः पञ्चेति चतुर्थशीलस्य ॥ १९१ ॥

सामायिक शिक्षाव्रत के ५ अतिचार हैं। मनोदुःप्रणिधान— सामायिक करते समय मन को अन्यथा चलायमान करना। वाग्दुःप्रणिधान— सामायिक करते समय बचन का अन्यथा चलायमान करना। कायदुःप्रणिधान-सामायिक करते समय काय का अन्यथा चलायमान करना। अनादर—उत्साह रहित होकर अनादर से सामायिक करना। स्मृत्यनुपस्थान—सामायिक में एकाग्रता बिना. चित्त की व्यग्रता से पाठ्य क्रियाओं को भूल जाना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुक्तसमस्तारम्भः प्रोषधदिन पूर्ववासरस्यार्द्धे ।
उपवासं ग्रहणीयान्ममत्वमपहाय देहादौ ॥१५२॥
श्रित्वा विविक्तवसतिं समस्तसावद्ययोगमपनीय
सर्वेन्द्रियार्थविरतः कायमनोवचनगुप्तिभिस्तिष्ठेत् ॥१५३॥
धर्मध्यानासक्तो वासरमतिवाह्य विहित साध्यविधिम् ।
शुचिसंस्तरे त्रियामांगमयेत्स्वाध्यायजितनिद्रः ॥१५४॥
प्रातःप्रोत्थाय ततःकृत्वा तात्कालिकं क्रियाकल्पम् ।
निर्वर्तयेद्यथोक्तं जिनपूजां प्रासुकैर्द्रव्यैः ॥१५५॥
उक्तेनततो विधिना नीत्वा दिवसं द्वितीयरात्रिं च।
अतिवाहयेत्प्रयत्नादर्द्धं च तृतीयदिवसस्य ॥१५६॥

प्रोषध अष्टमी चतुर्दशी के दिन को कहते हैं। इन दिनों में इच्छा पूर्वक चारों प्रकार के आहार का त्याग करना और पाप क्रियाओं से छूट कर धर्म सेवन करने का नाम प्रोषधोपवास है। जिस दिन उपवास करना हो, उससे पहले दिन मध्यान्ह के समय (दोपहर को) सर्व प्रकार के आरम्भ को छोड़, शरीरादिक से ममत्व भाव का त्याग कर उपवास धारण करे। इसके बाद चित्त की शान्ति के निमित्त किसी निर्जन वस्तिका में जावे। समस्त पापरूप योगों का त्याग करे। पांचों इन्द्रियों के सर्व विषयों से विरक्त होकर, मन गुप्ति, वचन गुप्ति तथा काय गुप्ति सहित स्थिर होवे, अर्थात् काय को निश्चल रक्खे। यदि काय से कुछ चेष्टा करनी हो तो परिमाण पूर्वक क्षेत्र के ही अन्दर २ धर्मरूप करे। मौन धारण करे। यदि कुछ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहे तो थोड़े और धर्म रूप वचन कहे और मन में किसी प्रकार का विकल्प न करे, यदि करे तो धर्मरूप विकल्प करे। इस प्रकार उपवास करने वाला उपवास के पहले दिन को धर्म ध्यानपूर्वक व्यतीत करे, फिर पवित्र प्रासुक संथारे पर पठन पाठन द्वारा निद्रा को जीत रात्रि को पूर्ण करे, प्रभात होते ही प्रातः काल सम्बंधी सामायिकादि क्रियाओं को करके, प्रासुक द्रव्य से शास्त्रोक्त विधि पूर्वक भगवत् की पूजा करे। जिस प्रकार उपवास के पहले दिन, रात्रि को पूर्ण किया, ठीक उसी प्रकार उपवास के दिन को रात्रि को, और तीसरे दिन दोपहर तक के समय को धर्म ध्यान आदिक शुभ क्रियाओं में ही यत्नाचार पूर्वक व्यतीत करे।

इति यः षोडशयामान् गमयति परिमुक्तसकलसावद्यः।
तस्य तदानीं नियतं पूर्णमहिंसा व्रतं भवति ॥ १५७ ॥

जो जीव इस प्रकार समस्त पाप क्रियाओं से रहित होकर उपवास के १६ पहर को व्यतीत करता है वह अवश्य ही उतने समय तक निश्चय पूर्वक संपूर्ण अहिंसा व्रत का पालन करता है।

भोगोपभोग हेतोः स्थावरहिंसा भवेत्किलामीषाम्।
भोगोपभोग विरहाद्भवति न लेशोऽपि हिंसायाः ॥१५८॥
वाग्गुप्तेर्नास्त्यनृतं न समस्तादान विरहितः स्तेयम्।
नाब्रह्ममैथुनमुचः सङ्गो नाङ्गेप्य मूर्छस्य शुग्यम् ॥१५६॥

देश व्रती श्रावकों के भोगोपभोग के निमित्त से स्थावर जीवों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की हिंसा हुआ करती है, परन्तु उपवास में भोगोपभोग के त्याग से हिंसा का लेश भी नहीं होता। उपवास में अहिंसा व्रत का पालन न होने के अलावा, बाक़ी व्रतों का भी पालन होता है। उपवासधारी पुरुष के बचन गुप्ति होने से झूठ बोलना नहीं है। समस्त अदत्तादान के त्याग होने से चोरी नहीं है, मैथुन का सर्वथा त्याग होने से अब्रह्म नहीं है और शरीर में ममत्व भाव के अभाव के कारण परिग्रह भी नहीं है।

इत्थमशेषितहिंसः प्रयाति स महाव्रतित्वमुपचारात्।
उदयति चरित्रमोहे लभते तु न संयमस्थानम् ॥१६०॥

इस प्रकार प्रोषधोपवासव्रत के धारण करने वाले श्रावक को उपचार से महाव्रती कह सकते हैं, परन्तु प्रत्याख्यानावरण चारित्र मोहनी के उदय रूप होने के कारण, संयम के स्थान प्रमत्त गुण स्थान को वह नहीं पा सकता। इस लिये पूर्णतया महाव्रती न कह कर "महाव्रती सरीखा" कह सकते हैं। इस प्रकार का एक उपवास भी बहुत कार्य कारी होता है, और जो उपवास केवल मान बड़ाई के निमित्त किये जाते हैं, वह चाहे जितने किये जावें, उन से किसी भी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। यह १६ प्रहर का उत्कृष्ट प्रोषधोपवास है। मध्यम १२प्रहर का है जैसे सप्तमी की संध्या से नौमी के प्रातःकाल तक जघन्य ८ प्रहर का है,खानपान तो १२ प्रहर ही छोड़े, परन्तु आरम्भ ८ प्रहर छोड़ सकता है। दूसरी विधि यह है कि १६ प्रहर धर्म ध्यान करे, आरम्भ छोड़े। मध्यम में जल आवश्यकतानुसार पी सकता है। जघन्य में बीच के दिन एकासन भी कर सकता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनवेक्षिताप्रमार्ज्जितमादानं संस्तरस्तथोत्सार्गः ।
स्मृत्यनुपस्थानमनादरश्च पञ्चोपवासस्य ॥ १९२ ॥

प्रोषधोपवासव्रत के ५ अतिचार हैं। अप्रत्वेक्षिताप्रमार्जि-तोत्सर्ग-नेत्रों से देखे बिना व कोमल पिच्छिका से शोधन किये बिना भूमि पर मल मूत्रादि डालना । अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान-बिना देखे, बिना झाड़े, बिना शोधी हुई पूजन की सामग्री तथा उपकरणों को घसीट कर उठाना । अप्रत्यवेक्षिता प्रमार्जित संस्त-रोपक्रमण—बिना देखी, बिना झाड़ी, बिना शोधी भूमि पर बैठने तथा सोने का संथारा आदि करना । स्मृत्यनुपसार-प्रोषधोपवास के दिन करी जाने वाली योग्य तथा आवश्यक क्रियाओं को भूल जाना। अनादर-उपवास में भूख प्यास की बाधा हो जाने के कारण आवश्यकीय क्रियाओं में उत्साह रहित होकर प्रवर्तना । इस प्रकार जो जीव कषाय, विषय तथा आहार का त्याग कर, इस लोक परलोक सम्बन्धी भोगों की अभिलाषा छोड़, एक भी उपवास अतिचार रहित करते हैं, वह बहुत से कर्मों की निर्जरा कर डालते हैं । और जो विषय कषायों के छोड़े बिना केवल आहार मात्र ही को छोड़ते हैं, और गृहस्थ सम्बन्धी कारोबार को भी करते रहते हैं, वे देह को वृथा ही कष्ट देते हैं। कर्मों की निर्जरा लेशमात्र भी नहीं करते हैं ।

भोगोपभोगपरिमाण शिक्षाव्रत—जो वस्तु एक बार भोगी जावे, उसे भोग कहते हैं जैसे भोजन, पुरुष आदिक । भोगोप-भोग-जो वस्तु बारंबार भोगने में आवे उसे उपभोग कहते हैं,जैसे वस्त्र, ज़ेवर, सवारी आदि ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भोगोपभोगमूला विरताविरतस्य नान्यतो हिंसा ।
अधिगम्य वस्तुतत्वं स्वशक्तिमपि तावपि त्याज्यौ १६१

देश व्रती श्रावक के भोग और उपभोगों के निमित्त ही थोड़ी बहुत हिंसा हुआ करती है। इसलिये उससे बचने के वास्ते वस्तु के स्वरूप को जानना चाहिये, कि किस वस्तु के सेवन करने में पाप ज्यादह होता है, और किस में कम। वस्तु के स्वरूप को जानने के बाद अपनी सामर्थ्य तथा अपने परिणामों और शरीर की शक्ति को भली भान्ति जांच कर उसके अनुसार भोगोपभोग का त्याग करना चाहिये।

एकमपि प्रजिघांसुर्निहन्त्यनन्तान्यतस्ततोऽवश्यम् ।
करणीयमशेषाणां परिहरणमनन्तकायानाम् ॥१६२॥

साधारण वनस्पति तथा अन्य पदार्थ जो अनन्त काय होते हैं अभक्ष्य हैं। उन का त्याग करना जरूरी है। यहां प्रसंग वश यह बताना जरूरी मालूम होता है कि साधारण तथा अनन्त काय किसे कहते हैं। यह पहले बता चुके हैं कि स्थावर जीव पाँच प्रकार के होते हैं—पृथ्वी, अप, तेज, वायु और वनस्पति। इनमें से वनस्पति के दो भेद हैं, साधारण और प्रत्येक। साधारण उसे कहते हैं। जिसके एक शरीर में अनन्त जीव स्वामी पाये जावें। जैसे कंद। कंद कभी भी प्रत्येक अवस्था को प्राप्त ही नहीं होते, साधारण ही रहते हैं। कन्द का शरीर ही जीवराशि का पिण्ड होता है, उस में अनन्त जीव उत्पन्न होते रहते हैं, और उस कंद को बढ़ाते रहते हैं। प्रत्येक वनस्पति उसे कहते हैं जिस के एक शरीर में एक ही जीव स्वामी पाया जावे। प्रत्येक वनस्पति के भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दो भेद होते हैं। सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित। निगोद सहित प्रत्येक वनस्पति को सप्रतिष्ठित कहते हैं। दूब, बेल, छोटे वृक्ष आदि, या ऐसी वनस्पतियें जिनमें लंबी लंबी रेखायें, गांठे या सन्धियें नजर न आवें, अथवा जो काटने के बाद फिर उग सकें, जिनके तन्तु न हों, अथवा जिनमें तोड़ने पर तन्तु न लगे रहें सप्रतिष्ठित कहलाती हैं। निगोद रहित प्रत्येक वनस्पति को अप्रतिष्ठित कहते हैं। जिनमें रेखा, गांठें, संधियें साफ नजर आवें, जो काटने के बाद फिर न उग सकें, जिनमें तन्तु होवें, और जिनमें तोड़ने पर तन्तु लगे रहें, उन्हें अप्रतिष्ठित कहते हैं। उपर्युक्त सप्रतिष्ठित वनस्पति को साधारण भी कहते हैं। इस सधारण वनस्पति में अनन्त जीव पाये जाते हैं। इस वास्ते इसको अनन्तकाय कहते हैं। उदाहरण-अदरक आदि साधारण वनस्पतियोंमें लोक के जितने प्रदेश हैं,उनसे असंख्यात गुणे जीव तो प्रत्येक शरीर में पाये जाते हैं, जिन्हें स्कंध हैं, जैसे अपना शरीर। इन स्कन्धों में असंख्यात लोक प्रमाण अन्डर पाये जाते हैं, जैसे शरीर में हाथ पांव आदि। एक अन्डर में असंख्यात लोक प्रमाण पुलवी पाये जाते हैं,जैसे हाथ पांव में उंगली आदि। एक पुलवी में असंख्यात लोक प्रमाण आवास पाये जाते हैं, जैसे अँगुली में तीन पोरी। एक आवास में असंख्यात लोक प्रमाण निगोद पाये जाते हैं, जैसे अंगुली के एक भाग में अनेक रेखायें पाई जाती हैं। एक निगोद शरीर में सिद्ध समूह से अनन्त गुणे जीव पाये जाते हैं। जैसे एक रेखा में अनेक प्रदेश। इस प्रकार एक सप्रतिष्ठित वनस्पति के टुकड़े में अनन्त जीवों का अस्तित्व पाया जाता है। एक हरित काय में अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर असंख्यात या संख्यात पाये जाते हैं, उन में जितने शरीर होते हैं उतने ही जीव पाये जाते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस लिये जिह्वा इन्द्रिय के ज़रा से स्वाद के लिये अनन्त जीवों का घात करना सर्व प्रकार अनुचित है।

नवनीतं च त्याज्यं योनिस्थानं प्रभूतजीवानाम् ।
यद्वापि पिण्डशुद्धौ विरुद्धमभिधीयते किञ्चित् ॥१६३॥

दही में से निकाले हुए मक्खन को यदि तत्काल ही अग्नि पर ता कर घी न बना लिया जावे, तो वह दो ही घड़ी बाद अनन्त जीवरूप हो जाता है। व्रती गृहस्थों को इसका त्याग अवश्य ही करना चाहिये। इसके सिवाय आचार ग्रन्थों में जिन जिन वस्तुओं को अभक्ष्य बताया गया है, उनका भी अवश्य त्याग करना चाहिये—जैसे चर्म स्पर्शित घी, तेल, जल, हींग, दूध, दही, मीठा, अनजानफल अनछाना पानी, बीझा हुआ अन्न, अचार, मुरब्बा, बैंगन, बहुबीजा आदि वस्तुएँ जिनका शास्त्र में निषेध किया गया है। कच्चा दूध अन्तमुहूर्त (४८ मिनट) के बाद पीने योग्य नहीं रहता, दही २४ घण्टे बाद अयोग्य हो जाता है। योग्य मर्यादा से बाहर का आटा, लाडू, मीठा आदि भी अभक्ष्य हो जाते हैं। छना हुआ जल पीना योग्य है, छलना गाढ़े कपड़े का हो, छलने को दोहरा करके जल छानना चाहिये। छने हुवे जल की मर्यादा अन्तर्मुहूर्त की है, जो जल लवंग आदि डालकर प्रासुक कर लिया जाता है, उसकी मर्यादा दो पहर की है। उबलते हुए जल की मर्यादा आठ पहर की है।

अविरुद्धा अपि भोगा निजशक्तिमवेक्ष्य धीमता त्याज्याः ।
अत्याज्येष्वपि सीमा कार्यैकदिवानिशोपभोग्यतया ॥१६४॥

विवेकवान पुरुष जो मोक्षाभिलाषी होते हैं, अयोग्य पदार्थों का तो आजन्म त्याग कर ही देते हैं, परन्तु यथाशक्ति उनको

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

योग्य पदार्थों का भी त्याग करना चाहिये। यदि किसी में योग्य पदार्थों के त्याग करने की शक्ति न हो तो वे उन पदार्थों को नियमित मर्यादा करके एक दिन, दो दिन के लिये तो अवश्य छोड़ दिया करें। त्याग दो प्रकार का होता है, एक यम रूप और दूसरा नियम रूप। किसी पदार्थ के जीवन पर्यन्त छोड़ देने को यम और वर्ष मास, पक्ष, दिन, घंटे आदि की मर्यादा रूप छोड़ने को नियम कहते हैं। अयोग्य पदार्थों का त्याग तो यम रूप से किया ही जाता है, योग्य पदार्थों के जीवन पर्यन्त त्याग की यदि शक्ति न हो, तो वह नियम रूप वर्ष महीना दिन, घंटे की मर्यादा पूर्वक त्याग किये जा सकते हैं। गृहस्थ को नीचे लिखे १७ प्रसिद्ध दैनिक नियमों को निरन्तर ग्रहण करना चाहिये। १. भोजन कितनी वार ग्रहण करे, २. पीने की चीजें कितनी और कै बार, ३. छहों रसों में से कौनसा छोड़ना कौनसा ग्रहण करना, ४. तेल साबुन उबटना कै वार लगावना, ५. फूल सूंघना कै वार, ६. पान तंबोल खाना कै बार, ७. सांसारिक गाना बजाना कै बार, ८. सांसारिक नृत्य देखना कै बार, ९. काम सेवन, १०. स्नान कै बार, ११. वस्त्र कितने जोड़े, १२. ज़ेवर कितने, १३. बैठने के आसन कितने, १४. सोने की शय्या कितनी, १५. सवारी कितनी और कै वार, १६. हरी सब्ज़ी तथा सचित्त वस्तु कितनी, १७. कुल खाने पीने की वस्तुओं की संख्या। इन में से जिस किसी को न भोगना हो उसको सर्वथा त्याग देवे।

पुनरपि पूर्वकृतायां समीक्ष्य तत्कालिकीं निजां शक्तिम्।
सीमन्यन्तरसीमा प्रतिदिवसं भवति कर्तव्या ॥१६५॥

एक वार भोगोपभोग परिमाण व्रत ग्रहण करने के बाद,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपनी शक्ति अनुसार मर्यादा में भी मर्यादा कर लेनी चाहिये।

इति यः परिमितभोगैः सन्तुष्टस्त्यजति बहुतरान् भोगान्।
बहुतरहिंसाविरहात्तस्याऽहिंसा विशिष्टा स्यात् ॥१६६॥

जो श्रावक इस प्रकार भोगोपभोगों का निरन्तर त्याग करते हैं उन के लोभ कषाय के त्याग से संतोष प्रगट हो जाता है, और त्याग किये हुवे भोगोपभोग सम्बन्धी हिंसा का भी त्याग हो जाता है. और उनके, अहिंसा व्रत में वृद्धि होती है।

आहारो हि सचित्तः सचित्तमिश्रस्सचित्तसम्बन्धः।
दुष्पक्वोऽभिषवोपि च पञ्चामी षष्टशीलस्य ॥१६३॥

भोगोपभोग परिमाण व्रत के ५ अतिचार हैं। सचित्ताहार—सचित्त त्यागी हो कर जीव सहित सचित्त वस्तु का आहार करना। सचित्त मिश्राहार—त्यागी हो कर सचित्त वस्तु से मिली हुई वस्तु का आहार करना। सचित्त सम्बन्धाहार—सचित्त त्यागी हो कर सचित्त वस्तु से छूई हुई वस्तु का आहार करना—जैसे हरे पत्ते पर रखा हुआ दही खाना। दुष्पकाहार—कच्चा पक्का आहार—जो अग्नि से अच्छी तरह पकाने में न आया हो अथवा ऐसा आहार जो हजम न हो सके। अभिष व कामोत्पादक—कामोद्दीपक, पुष्टिकारक आहार करना।

अतिथि संविभाग शिक्षा व्रत

विधिना दातृगुणवता द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय।
स्वपरानुग्रह हेतोः कर्तव्योऽवश्यमतिथये भागः ॥१६७॥

अतिथि (जिन का आना तिथि के नियम रहित होता है)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साधु को भक्ति पूर्वक दान देकर भोजन करना, अपने कुटुम्ब के लिये बनाये भोजन में से उत्तम, मध्यम, जघन्य तीन प्रकार के पात्रों को भक्ति पूर्वक दान देने को अतिथि संविभाग कहते हैं। यह ग्रहस्थी के नित्य षट कर्मों में से एक है। इस प्रकार का दान, देने वाले और लेने वाले दोनों के लिये ही उपकारी होता है। दातार को उत्तम पात्र को दान देने से विशेष पुण्य का बन्ध होता है. पात्र को ज्ञान संयमादि की वृद्धि रूप फल होता है। दान दो प्रकार होता है एक पात्र दान, दूसरा करुणा दान।

संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामं च ।
वाक्कायमनः शुद्धिरेषणशुद्धिश्च विधिमाहुः ॥१६८॥

उत्तम पात्रों को दान नवधाभक्ति पूर्वक दिया जाता है पात्रों को अपने और उनके गुण विचार कर यथोचित विधिपूर्वक दान देना चाहिये अपात्रोंको भक्तिपूर्वक दान नहीं देना चाहिये,क्योंकि विषय कषाययुक्त अश्रद्धानी पापी जीवों का आदर सत्कार करने से पाप का बन्ध होता है। अपात्रों को दुःखी पीड़ित देखो तो उन पर दयाभाव करके उनका दुःख कष्ट अवश्य ही दूर कर दो, परन्तु उनके प्रति भक्तिभाव न करो; क्योंकि भक्तिभाव करने से उनके पाप की अनुमोदना होती है। नवधाभक्ति १—भक्ति पूर्वक पड़गाह कर घर में ले जाना, २—उच्च आसन देना, ३—चरण प्रक्षालन करना, ४—नमस्कार करना, ५—पूजा करना, ६—मन शुद्धि, ७—वचन शुद्धि, ८—काय शुद्धि, ९—आहार शुद्धि अर्थात् देने योग्य शुद्ध आहार का देना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दाता के सात गुण ये हैं—

ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्तिर्निष्कपटतानसूयत्वम् ।
अविषादित्वमुदित्वे निरहङ्कारित्वमिति हि दातृगुणाः १६९

१—इस लोक सम्बन्धी फल जैसे रत्न वृष्टि, यश, सौभाग्य आदि की चाह का न होना, २—क्षमा, ३—निष्कपटता अर्थात् कपट न हो, कि बाहर से तो भक्ति करे अन्तरंग में उसे बुरा जाने ४—दूसरे दातार से ईर्षाभाव न रक्खे, ५—अविषादभाव अर्थात् ऐसा भाव न करे कि अमुक अच्छी वस्तु हमारे लिये थी हमने यूं ही व्यर्थ उनको दान में देदी, ६—दान देकर अपने चित्त में हर्षित होना, ७—निरभिमानता, दान देकर अहंकार का यह भाव न करे कि हम बड़े दातार हैं। दान दाता इन गुणों से संयुक्त होना चाहिये। दान का फल दातार के इन गुणों के न्यूनाधिक होने के अनुसार होता है।

रागद्वेषासंयममदद्ुःखभयादिकं न यत्कुरुते ।
द्रव्यं तदेव देयं सुतपः स्वाध्याय वृद्धिकरम् ॥१७०॥

दान देने योग्य पदार्थ—जिन वस्तुओं के देने से राग, द्वेष, मान, दुख, भय आदिक पापों की उत्पत्ति होती है, वह देने योग्य नहीं। जिन वस्तुओं के देने से तपश्चरण, पठन पाठन, स्वाध्यायादि कार्यों में वृद्धि होती है, वही देने योग्य हैं। रागादिक भावों के उत्पन्न करने वाले, पृथ्वी, मकान, घोड़ा, हाथी, सोना, चांदी, शस्त्रादि अथवा कामोद्दीपनादिक विकार पैदा करने वाले पनार्थ या विष आदिक दुःख देने वाले पदार्थ दान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देने योग्य नहीं हैं। इन वस्तुओं के निमित्त से दान लेने वाला जो पाप बन्ध करता है उसका फल दान देने वाले को भी सहायक कारण होने से भोगना पड़ता है। इसलिए ऐसी वस्तुयें ही दान देने योग्य हैं कि जिनके देने से विकार भाव उत्पन्न न हो, और तपश्चरण आदि गुणों की वृद्धि हो। क्षुधा मेटने के निमित्त आहार दान, रोग दूर करने के लिये औषधि दान, अज्ञान दूर करने के लिये शास्त्र दान अथवा ज्ञान दान, भय निवारण के निमित्त अभय दान देना ही श्रेष्ठ है। अथवा यह चार प्रकार का दान ही योग्य है, और पुण्य बन्ध का कारण है।

पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मोक्षकारण गुणानाम्।
अविरतसम्यग्दृष्टिः विरताविरतश्च सकलविरतश्च ॥१७१

दान के पात्र—जो दान लेने वाले पुरुष सम्यक् दर्शन सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्न त्रय से संयुक्त होते हैं, वे ही पात्र कहलाते हैं। पात्र के ३ भेद हैं उत्तम, मध्यम और जघन्य। सकल चारित्र के धारक सम्यक्त युक्त मुनिराज तो उत्तम पात्र, देश व्रती श्रावक मध्यम पात्र और अव्रती सम्यक् दृष्टि जघन्य पात्र होते हैं पात्र को जिस भाव से दान दिया जाता है, दाता को वैसा ही फल मिलता है। सत्पुरुषों को दान देना कल्प वृक्ष के समान है। शोभा भी है, और मन वांछित फल की प्राप्ति भी होती है। लोभी, लंपटी पापीपुरुषोंको दानदेनामुर्दे के विमान कैसी शोभा रखता है। मुर्दे के विमान निकालने में शोभा तो है, परन्तु कुटम्बियों को कोई सुख न होकर छाती कूटना ही होता है। ठीक इसी प्रकार अपात्र को दान देने से शोभा तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होती है, परन्तु दाता को महापाप का बन्ध होता है।

हिंसायाः पर्य्यायो लोभोऽत्र निरस्यते यतो दाने।
तस्माद तिथिवितरणं हिंसाव्युपरमणमेवेष्टम् ॥१७२॥

लोभ कषाय हिंसा की ही एक पर्याय है, लोभ के त्याग किये विना दान नहीं दिया जा सकता। इसलिये दान में लोभ का त्याग होने के कारण अहिंसा धर्म का पालन भी सिद्ध होता है।

गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्त्या परान्न पीडयते।
वितरतियोनातिथये स कथं न हिलोभवान् भवति॥१७३॥

जैसे भौंरा भ्रमता भ्रमता जहां बने वहां से फूलों को किसी प्रकार भी कष्ट न पहुँचाता हुवा, उनकी वासना को ले लेता है, ठीक उसी प्रकार तपोधन के धारक परम वैरागी मुनिराज भी जहां आहार की योग्य विधि बने, वहां दातार को किसी प्रकार भी बाधा न पहुँचाते हुवे आहार लेते हैं। ऐसे सन्तोषी परम उदासीन वृत्ति के धारक साधु को भी जो दान नहीं देते, वे अवश्य ही लोभी हैं।

कृतमात्मार्थं मुनये ददाति भक्तमिति भावितस्त्यागः।
अरतिविषाद विमुक्तः शिथलितलोभो भवत्यहिंसैव॥१७४॥

इस अतिथि संविभाग व्रत में द्रव्य अहिंसा तो परजीवों का दुःख दूर करने के निमित्त प्रत्यक्ष ही है, रही भावित अहिंसा वह भी लोभ कषाय के त्याग की अपेक्षा समझनी चाहिये।

परदातृव्यपदेशः सचितनिक्षेपतत्पिधाने च।
कालस्यातिक्रमणं मात्सर्य्यं चेत्यतिथिदाने॥ १९४॥

अतिथि संविभाग व्रत के ५ अतिचार हैं। १ परदातृव्यपदेश

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपने हाथ से दान न देना, दूसरे से कह कर दान दिलाना, दूसरे की वस्तु दान देना, २ सचित निक्षेप—कमल पत्रादिक सचित वस्तुओं में आहार रख कर देना । ३ सचित्ताभिधान—सचित कमलादि पत्रों से ढके हुवे आहार को दान में देना । ४ कालातिक्रम—दान देने के काल को उल्लंघन करके अकाल में आहार देना, आहार का समय भूल जाना, ५ मात्सर्य—अनादर से देना, या अन्यदातार से ईर्षाभाव करके दान देना । 'जिसप्रकार अच्छी पृथ्वी में वोया हुवा छोटा सा भी वड़ का बीज अपने समय पर बड़ी भारी छाया को और बहुत से फलों को देता है, उसी प्रकार पात्र को दिया हुवा थोड़ा सा भी दान जीवों के लिये समय पर बड़ी भारी विभूति और इच्छानुसार अनेक फलों को देता है" (समंतभद्र आचार्य) ।

सल्लेखना

मरण का काल निकट होने पर श्रावक शान्त भाव से अपने शरीर का त्याग करे, इसलिये आहार और कषाय के त्याग रूप सल्लेखना की भावना निरन्तर करनी योग्य है। सम्यक् प्रकार से काय व कषाय के क्षीण करने को सल्लेखना कहते हैं। सल्लेखना के दो भेद हैं, एक अभ्यन्तर सल्लेखना, और दूसरी बाह्य सल्लेखना । अन्तरङ्ग में क्रोधादिक कषायों के क्षीण करने को अभ्यन्तर सल्लेखना कहते हैं। अनुक्रम पूर्वक आहार को घटा कर अथवा सर्वथा त्याग करके काय के क्षीण करने को बाह्य सल्लेखना कहते हैं।

इयमेकैव समर्था धर्मस्वं मे मया समं नेतुम् ।
सततमिति भावनीया पश्चिमसल्लेखना भक्त्या॥१७५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्त समय सल्लेखना की भावना इस प्रकार करनी चाहिये, कि इस मनुष्य भव में जो व्रत नियमादि का पालन करके मैंने धर्मरूप धन कमाया है, उसे मेरे साथ परलोक में ले जाने के लिये केवल सल्लेखना ही समर्थ है। यदि मरणांत समय में सल्लेखना न धारण कर सके और परिमाण भ्रष्ट हो जावें तो दुर्गति में जा पड़ेगा। इसलिये अन्त समय में सल्लेखना अवश्य ही अङ्गीकार करनी चाहिये। मरण दो प्रकार का होता है—एक नित्य मरण और दूसरा तद्भव मरण। आयु श्वासो-श्वासादिक दस प्राणों का जो समय समय वियोग होता है, उसे नित्य मरण कहते हैं। और जन्म के नाश होने को तद्भव मरण कहते हैं।

मारणान्तेऽवश्यमहं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि।
इतिभावनापरिणतो नागतमपि पालयेदिदंशीलम्॥ १७६॥

सल्लेखना का धारण अन्त समय में है, परन्तु जीव की आयु समय समय घटती ही जाती है, जिससे निदान मरण ध्रुव है। इस लिये पहले ही ऐसी प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिये कि मैं मरण समय संन्यास अवश्य ही धारण करूंगा।' इस प्रतिज्ञा की अपेक्षा यह व्रत पहले ही पाला हुवा समझा जावेगा। यहां कोई प्रश्न करे कि सल्लेखना धारण करने में तो अपघात होता है, आचार्य उसका समाधान इस प्रकार करते हैं।

मरणेऽवश्यंभाविनि कषाय सल्लेखना तनूकरणमात्रे।
रागादिमन्तरेणव्याप्रियमाणस्य नात्मघातोऽस्ति॥१७७॥

जब जीव यह निश्चय कर लेवे कि अब मेरा मरण समय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निकट ही है, तो उस समय सल्लेखना व्रत को धारण करे और उस दशा में विषय कषायादिक को घटावे और राग द्वेष मोहादिक भावों का अभाव करे। ऐसा करने में आत्मघात का दोष नहीं लगता। जैसे कोई व्यापारी अपने मकान में आग लग जाने पर, पहले तो उस आग के बुझाने का प्रयत्न करता है, परन्तु जब उसका बुझाना असम्भव समझने लगता है,तो वह फिर ऐसा प्रयत्न करता है कि उसका व्यवहार न बिगड़े और उसका माल सुरक्षित रहे। ठीक इसी प्रकार जब शरीर में कोई व्याधि उत्पन्न हो जाती है तो धर्मात्मा पुरुष निर्दोष रीति से उस व्याधि को दूर करने के लिए औषधादिक का सेवन करता है। परन्तु जब वह समझने लगता है कि अब रोग से बचना असम्भव है, तो सल्लेखना धारण कर लेता है, ताकि उसका धर्म न विगड़ने पावे। इस प्रकार मरणान्त समय निश्चय करने के वाद धर्म की रक्षा के निमित्त सल्लेखना व्रत का धारण करना अपघात नहीं है। इसी तरह अन्य आपत्ति, संकट उपसर्ग के पड़ते हुवे भी सल्लेखना से ही मरना योग्य है।

यो हि कषायाविष्टः कुम्भकजलधूमकेतु विषशस्त्रैः।
व्यपरोपयतिप्राणान् तस्य स्यात्सत्यमात्मवधः॥ १७८॥

जो जीव क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय के वश होकर या इष्ट वियोग के खेद वश होकर, या आगामी निदान के वश होकर अपने प्राणों का घात फांसी खा कर, जल में डूब कर, अथवा विष, अग्नि, शस्त्रादिकों द्वारा, कर डालते हैं उनको निःसन्देह, अपघात का दोष लगता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नीयन्तेऽत्र कषायाः हिंसाया हेतवो यतस्तनुताम् ।
सल्लेखनामपि ततः प्राहुरहिंसाप्रसिध्यर्थम् ॥ १७९ ॥

सल्लेखना पूर्वक मरण करने वालों को अपघात का दोष नहीं लगता सल्लेखना में कषायों का क्षीण करना परमावश्यक है। कषाय हिंसा के मूल कारण हैं। इसलिये सल्लेखना में कषायों के क्षीण होने से अहिंसा की सिद्धि होती है।

इति यो व्रतरक्षार्थं सततं पालयति सकलशीलानि ॥
वरयतिपतिंवरेवस्वयमेव्रतमुत्सुकाशिवपदश्रीः ॥ १८० ॥

जिस प्रकार स्वयम्वर मण्डप में कन्या आप ही अपने योग्य वर को तलाश करके उसके गले में वर माला पहना देती है, ठीक उसी प्रकार मुक्ति लक्ष्मी अपने योग्य व्रतादि संयुक्त जीव को स्वयं अपना स्वामी बना लेती है अर्थात् व्रती श्रावक अवश्य ही कभी न कभी मुक्ति पद को प्राप्त कर लेता है। ऐसा जान कर हर जीव को व्रती श्रावक होना ही योग्य है। आगे समाधि मरण की संक्षिप्त विधि बताते हैं। जब शरीर किसी असाध्य रोग से अथवा वृद्धावस्था से असमर्थ हो जावे, या धर्म के विनाश करने वाला कोई विशेष कारण पैदा हो जावे, तब अपने शरीर को पक्के पान के समान, तथा तेल रहित दीपक के समान स्वयमेव विनाश के सम्मुख जान संन्यास धारण करे। यदि मरण में किसी प्रकार का सन्देह हो तो मर्यादा पूर्वक ऐसी प्रतिज्ञा करे, कि जो इस उपसर्ग में मेरी मृत्यु हो जावेगी तो मेरे आहारादिक का सर्वथा त्याग है, और, जो कदाचित् जीवन बाक़ी रहेगा तो आहारादिक ग्रहण करूंगा। असाध्य रोग हो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाने पर जब किसी भी इलाज से आराम होता नजर न आवे, तो क्लेशित परिणाम भी न होकर संयम पूर्वक मन, वचन, काय के व्यापारों को आत्मा में एकत्रित करना चाहिये। और "जन्म मृत्यु शरीर सम्बन्धी हैं, मेरे नहीं हैं, मैं तो निर्विकार शुद्ध, शिवस्वरूप हूं" ऐसा चिन्तवन कर निर्ममत्व होकर विधि पूर्वक आहार घटा कर शरीर को कृश करना चाहिये। फिर चार प्रकार के संघ को साक्षी कर समाधि मरण में उद्यमवान होना चाहिये। समाधि मरण करने वाला पहर दोपहर काल की मर्यादा पूर्वक भी त्याग कर सकता है। यदि समाधि मरण के विना मृत्यु हो जाती है तो अन्त मरण बिगड़ जाता है, और कुगति में जाना पड़ता है। संन्यासार्थी पुरुष के लिये उचित है कि जहां तक बने, जिन भगवान् की जन्मादि तीर्थ भूमियों का आश्रय ग्रहण करे. और यदि ऐसा स्थान न प्राप्त हो सके तो अपने घर में ही निर्मोही होकर धर्मात्माओं तथा संयमी जनों के आश्रय में रहे। सबसे क्षमा की यचना करे और आप भी मन, वचन, काय पूर्वक सब प्राणियों को क्षमा करे, क्योंकि अन्त समय क्षमा करने वाला संसार का पारगामी होता है। सहधर्मी तथा आचार्यों की सहायता प्राप्त कर लेना सल्लेखना व्रत के पालन के लिये बड़ा उपयोगी होता है। यदि असावधानता के कारण व्रत में कोई दोष लगता नजर आता है, तो वह अपने उपदेश द्वारा, उसको सावधान कर सल्लेखना व्रत को निर्विघ्नता पूर्वक पूर्ण करने में उसकी पूरी पूरी सहायता करते हैं। यदि व्रत में कोई किसी प्रकार का अतिचार लगा हो तो सहधर्मियों अथवा आचार्य के सामने प्रगट कर, निःशल्य होकर प्रतिकरण, प्रायश्चित आदि शास्त्रोक्त विधियों से शोधन करना चाहिये। समाधि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मरण के लिये पूर्व तथा उत्तर दिशा की ओर मस्तक रखना चाहिये। यदि श्रावक महाव्रत की याचना करे तो आचार्यों को उचित है कि उसे महाव्रत देवें, महाव्रत में नग्न होना चाहिये। आचार्य को चाहिये कि अपने उपदेश द्वारा शरीर की निस्सारता तथा कृतघ्नता दिखा भोजन की इच्छा छुड़ावे—अन्न की तृष्णा दूर कराके दूध आदि पीने की वस्तुओं को रखावे। फिर उनको घटाकर क्रम से गर्म जल मात्र का नियम करा देवे, और यदि देश, काल, तथा प्रकृति के कारण प्यास की बाधा सहन करने में असमर्थ होवे तो ठण्डा पानी मात्र रख लेना चाहिये, और सन्बोधना करनी चहिये कि हे श्रावक! सल्लेखना अत्यन्त दुर्लभ है, तुम्हें विचार पूर्वक अतिचार आदि दूषणों से इसकी रक्षा करना चाहिये। इसके बाद शारीरिक कमजोरीको बढ़ते हुये देख कर और मृत्यु को निकट जानकर आचार्य को उचित है, कि समस्त संघ की अनुमत से संन्यास में दृढ़ कराने के निमित्त जल का भी त्याग करा देवे। इस अनुक्रम से चारों प्रकार के आहार का त्याग होने पर समस्त संघ से क्षमा करावे और निर्विघ्न समाधि की सिद्धि के लिये कायोत्सर्ग करावे। फिर संसार वैराग्य तथा उदासीनता उत्पन्न करने वाले कारणों का जप मन्द २ वाणी से संन्यासी के कान में करे। महान् पुरुषों के दृष्टान्त सुना सुना कर व्यवहार आराधना में स्थिर करे और निश्चय आराधना के निमित्त उपदेश करे, और भली भान्ति मनोहर शब्दों में यह जतलावे, कि हे श्रावक! इस समय तो यह कर्तव्य है कि अन्तरङ्ग बाह्य परिग्रह के त्याग पूर्वक साम्यभाव से निर्विकल्प समाधि में स्थिर हो कर परम आनन्दामृत का पान करो। इस प्रकार विधि पूर्वक कषाय कृश करते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हुवे रत्नत्रय भावना रूप परिणमन से, पंच नमस्कार मन्त्र स्मरण पूर्वक प्राण विसर्जन करना चाहिये।

जीवितमरणाशंसे सुहृदयनुरागः सुखानुबन्धश्च।
सनिदानः पञ्चैते भवन्ति सल्लेखनाकाले ॥१६५॥

सल्लेखना व्रत के ५ अतिचार हैं। १. जीवित शंसा—सल्लेखना धारण करने के बाद जीने की अधिक इच्छा करना। २. मरणाशंसा—रोगादिक की पीड़ा के भय से घवरा कर जल्दी मरने की वांछा करना। ३. सुहृदानुराग (मित्रानुराग)—अपने मित्रों के साथ की हुई क्रीड़ाओं को याद करना, अथवा मित्रों को याद करना। ४. सुखानुबन्ध—पूर्व काल में भोगे हुवे भोगों को याद करना। ५. निदान—अगले जन्म में विषय भोगादि सुखों के प्राप्त होने की वांछा करना।

इत्येतानतिचारानपरानपि सम्प्रतर्क्य परिवर्ज्य।
सम्यक्त्वव्रतशीलैरमलैः पुरुषार्थसिद्धिमेत्यचिरात् ॥१६६॥

पंच अणु व्रत, सप्त शील व्रत तथा सल्लेखना व्रत का निरतिचार पालन ही योग्य है। अतिचारों के परिहार से सम्यक्त, व्रत और शील शुद्ध होते हैं, और उन के शुद्ध होने पर आत्मा शीघ्र ही अपने इष्ट पद को प्राप्त हो जाता है, इस ग्रन्थ में सामान्यतया सम्कक् दर्शन, १२ व्रत और सल्लेखना का कथन है, अन्य ग्रन्थों में श्रावकों का चारित्र, दर्शन व्रत आदि ११ प्रतिमाओं में वांट दिया गया है, जिससे एक श्रावक धीरे धीरे उन्नति करते हुए मुनि पद की योग्यता प्राप्त कर सके। यहाँ पाठकों के सुभीते के लिए ११ प्रतिमाओं का कुछ संक्षिप्त वर्णन कर देना उचित प्रतीत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होता है। श्रावकों के आचरण की उन्नति के लिए ११ श्रेणियाँ हैं, जिन में पहली पहली श्रेणी का आचरण पालते रह कर आगे का आचरण और बढ़ा लिया जाता है। इन्हीं को प्रतिमा कहते हैं। प्रतिमा जैसे अपने आसन में दृढ़ रहती है, वैसे ही स्व-कर्तव्य में श्रावक को दृढ़ रहना चाहिये। १. दर्शन प्रतिमा—इस प्रतिमा का धारी श्रावक अपने सम्यक् दर्शन में २५ दोष नहीं लगता—अष्टांग सम्यक् दर्शन का आराधना करता है। पञ्च परमेष्ठी के चरण कमल में ही श्रद्धा रखता है, अष्टमूल गुण का धारक होता है, अर्थात् मदिरा, मांस और मधु इन तीन मकारों और बड़, पीपल, ऊमर, कठूमर, पाकर पाँच उदम्बर फलों का सर्वथा त्यागी होता है। सप्त व्यसन का भूल कर भी सेवन नहीं करता। इस प्रतिमा का पालन करने वाला श्रावक दृढ़ चित्त निर्भय होता है, यदि कोई परीषह या कष्ट उस पर आ पड़ता है तो अपने नियम की प्रतिज्ञा से डिगता नहीं। निदान शल्य, अर्थात् इस लोक सम्बन्ध यश सुख; संपत्ति, या परलोक सम्बन्धी शुभ गति की वांछा से रहित होकर वैराग्य भावना का ही चिंतवन किया करता है। अभक्ष्य और अन्याय को अत्यन्त अनर्थका कारण जान त्याग करता है। संसार शरीर और भोगोंसे विरक्त होता है। माया मिथ्या और निदान तीनों शल्यों से रहित होकर सम्यक् दर्शन को निरतिचार पालन करता है। २. व्रत प्रतिमा-बारह व्रतों को पालना। इस प्रतिमा का पालन करने वाला पाँच अणुव्रतों का अतिचार रहित पालन करता है और उनके सहायक तीन गुण व्रत, और चार शिक्षा व्रत अर्थात् सप्त शील व्रतों को भी निर्दोष पालन करता है। व्रत प्रतिमा का धारक श्रावक दृढ़चित्त, समभाव संयुक्त, और ज्ञानवान हुवा करता है। ३.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सामायिक प्रतिमा—इस प्रतिमा का धारी श्रावक नियम पूर्वक सवेरे, दोपहर, और सन्ध्या समय, प्रतिदिन तीन बार विधि पूर्वक निरतिचार सामायिक किया करता है। सामायिक में कम से कम समय अन्तर्मुहूर्त अर्थात् ४८ मिनट अवश्य लगाना चाहिये। ४. प्रोषधोपवास प्रतिमा— इस प्रतिमा का धारी श्रावक धर्म ध्यान में लीन होकर, प्रत्येक महीने की दो अष्टमी, दो चतुर्दशी, चारों ही पर्व के दिनों में, अपनी शक्ति को न छिपा कर, नियम पूर्वक निरतिचार प्रोषधोपवास किया करता है। ५ सचित त्याग प्रतिमा—इस प्रतिमा का धारी श्रावक कंद मूल फल शाक, कोंपल, ज़मीकन्द, फूल, बीज आदि पदार्थों को कच्चे नहीं खाता है। जिह्वा इन्द्रिय के विषय को जीतने के आशय से गर्म या प्राशुक पानी पीता है। सचित पदार्थ का भक्षण नहीं करता है। सचित्त को अचित्त वनाने की विधि यह है—

सुक्कं पक्कं तत्तं अंविल लवणे हिं मिस्सियं दव्वं।
जं जंतेण या छिण्णं तं सव्वं फासुयं भणियं॥ १॥

अर्थात् सुखाया हुवा, पकाया हुवा, तपाया हुवा, खटाई और नमक से मिला हुवा, तथा जो यंत्र से छिन्न भिन्न किया हुवा, अर्धात् शोधा हुवा ऐसा सब हरित काय प्राशुक कहिये जीव रहित अचित्त होता है।

६—रात्रि भुक्ति त्याग प्रतिमा--इस प्रतिमा का धारी सम्यक् दृष्टि श्रावक रात्रि को न तो आप ही किसी प्रकार का जल पान व भोजन करता और नहीं दूसरे को कराता है। खाद्य, स्वाद्य, लेय और पेय चारों ही प्रकार के आहार का रात्रि के समय सर्वथा त्यागी होता है। दो घड़ी अर्थात् ४८ मिनट सूर्यास्त से पहले तक व ४८ मिनट सूर्योदय होने पर भोजन पान करना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रात्रि को भोजन सम्बन्धी आरम्भ भी नहीं करना पूर्ण सन्तोष रखना। ८—ब्रह्मचर्य प्रतिमा—जो ज्ञानी सम्यक् दृष्टि श्रावक, समस्त ही चार प्रकार की स्त्री देवांगना, मनुष्यणी, तिर्यंचनी और चित्राम—रूप आदिक स्त्री की अभिलाषा मन, बचन, काय से नहीं करता है, वही ब्रह्मचर्य प्रतिमा का धारक कहा जाता है। इस प्रतिमा का धारक अपनी स्त्री के भोग का भी त्यागी होता है, उदासीन वस्त्र पहनता है और वैराग्य भावना में लीन रहता है। ८ आरम्भ त्याग प्रतिमा—जो श्रावक गृहकार्य सम्बंधी, नौकरी चाकरी, खेती, व्यापार आदि समस्त ही आरम्भ से विरक्त हो जाता है अर्थात् इन सब का त्याग कर देता है, वह आरम्भ त्याग प्रतिमा का धारी कहलाता है। इस प्रतिमा के धारी को यदि अपना पुत्र आदिक या अन्य कोई और भोजन के लिये बुलावे तो जीम आना। परन्तु इस प्रतिमा को धारण करने वाला, अभिषेक, दान, पूजा आदि का त्याग नहीं करता। ९—परिग्रह त्याग प्रतिमा—जो ज्ञानी सम्यक् दृष्टि श्रावक अंतरङ्ग और बाह्य दोनों २४ प्रकार के परिग्रह को पाप का कारण जान हर्ष भाव के साथ त्याग करता है वही परिग्रह त्याग प्रतिमा का धारी कहलाता है। इस प्रतिता का धारी श्रावक अपने लिये कुछ आवश्यक वस्त्र रख लेता है, धर्म शाला आदि में ठहरता है और भक्ति से बुलाये जाने पर जो मिले सन्तोष पूर्वक जीम लेता है। १० अनुमति त्याग प्रतिमा—जो खेती, व्यापार आदि आरम्भ, धन्न धान्य आदि परिग्रह; और विवाह आदि इस लोक सम्बन्धी कार्यों को पाप का मूल कारण जान कर इनमें अपनी सम्मति नहीं देता, वह ममत्व रहित पुरुष अनुमति त्याग प्रतिमा को धारण करने वाला कहलाता है। इस प्रतिमा का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धारक घर में भी बैठता है, बाहर चैत्यालय, मठ, मन्दिर में भी रहता है। भोजन के लिये यदि कोई घर का या और कोई श्रावक बुलाने के लिये आता है, जो कुछ गृहस्थ जिमाता है, जीम आता है, ऐसा नहीं कहता कि हमारे लिये अमुक वस्तु तय्यार कर दीजिये। ११—उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा जो सम्यक् दृष्टि श्रावक घर को छोड़ मठ में, मण्डप में या मुनियों की वस्तिका में जाकर रहता है गुरु के पास व्रत धारण कर तपश्चरण करता है, अनेक घरों से प्राप्त हुई भिक्षा का भोजन करता है और कोपीन मात्र खण्ड वस्त्र को धारण करता है, वह उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा का धारण वरने वाला उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है। इस प्रतिमा में अपने निमित्त बनाये हुवे भोजन का त्याग किया जाता है। जो भोजन ग्रहस्थ ने अपने कुटुम्ब के लिये बनाया हो, उसीमें से भिक्षा द्वारा भक्ति से दिये जाने पर ग्रहण किया जाता है। इसके दो भेद हैं। क्षुल्लक—जो एक खण्ड चादर व एक कोपीन या लंगोट रखते हैं, मोर पंख की पीछी और एक कमण्डल रखते हैं। वालों को कतराते हैं, गृहस्थ के यहां थाली में बैठ कर एक वार भोजन करते हैं। ऐलक—जो केवल एक लंगोटी रखते हैं, मुनि की क्रियाओं का अभ्यास करते हैं। गृहस्थ के यहां खड़े होकर हाथ में ही भोजन करें। स्वयं मस्तक्, दाढ़ी और मूछ के केशों को हाथ से उखाड़ डालते हैं।

जब इस जीव के अप्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव हो जाता है, तो यह जीव पांचवें गुण स्थान में पदारोपण करता है, और उस गुण स्थान सम्बन्धी प्रतिज्ञाओं का निरतिचार पालन करता है। इस गुण स्थान में ही प्रत्याख्यानावरण कषाय के तीव्र मन्द भेदों की अपेक्षा ग्यारह प्रतिमारूप श्रावक के एकोदेश

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चरित्र के भेद किये गये हैं। ज्यों २ कषाय मन्द होते जाते हैं-त्यों २ अगली २ प्रतिमा की प्रतिज्ञा होती चली जाती है। इन प्रतिज्ञाओं में आत्मध्यान का अभ्यास बढ़ाया जाता है और इससे जीव की धीरे २ उन्नति होती चली जाती है। यदि जीव के प्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव हो जाता है तो वह मुनि पद को ग्रहण कर दिगम्बरी दीक्षा ले अपनी आत्मा का अधिक कल्याण करता है। और यदि मुनि पद को ग्रहण करने की शक्ति तथा योग्यता अपने में नहीं देखता तो श्रावक के धर्म का ही पालन करता हुआ मरणान्त समय में आराधना सहित होकर एकाग्रचित्त कर, पंच परमेष्ठी का ही ध्यान करते हुए सल्लेखना पूर्वक अपने प्राणों का त्याग करता है, और विशेष पुण्य का बन्ध कर शुभगति को प्राप्त होता है। पहली प्रतिमा से छठी प्रतिमा तक पालन करने वाला जघन्य श्रावक कहलाता है, ७वीं ८वीं ९वीं प्रतिमा का धारक मध्यम श्रावक, और दसवीं ग्यारहवीं प्रतिमा का धारक उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है। इस प्रकार ग्यारह प्रतिमाओं का संक्षिप्त वर्णन किया गया। जो भव्य मुनिधर्म के पालन के लिये असमर्थ हैं, उन्हें योग्य है कि अपनी शक्ति के अनुसार गृहस्थ धर्म का निर्दोष पालन करें, और अपने जीवन को सफल बनावें।

इति देशचारित्र कथनम्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ सकल चारित्रकथनम्

चारित्रान्तर्भावात् तपोपि मोक्षाङ्गमागमे गदितम् ।
अनिगूहितनिजवीर्यैस्तदपि निषेव्यं समाहितस्वान्तैः १९७

देश चारित्र का वर्णन करने के बाद अब आगे सकल चारित्र का वर्णन करते हैं । पहले बता चुके हैं कि सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की एकता का ही नाम मोक्ष मार्ग है । तप चारित्र का ही एक भेद है । "तपसा निर्जरा च" तप करने से निर्जरा और संवर दोनों होते हैं । मोक्षाभिलाषी पुरुषों के लिये तप सेवन करने योग्य है । तपश्चरण के लिये दो बातों का होना जरूरी है, एक तो अपनी शक्ति को न छिपाना, और दूसरे मन को वस में करना । जो पुरुष अपनी शक्ति को छुपाता है और कहता है कि मुझ से तो तप नहीं हो सकता, उस के लिये तप अङ्गीकार करना असम्भव है । और यदि मन वशीभूत न होवे, तो तप करते हुए भी इच्छा बनी रहेगी; इच्छा के अभाव विना तप नहीं होता । "इच्छा निरोधस्तपः" इच्छा के निरोध का ही नाम तप है । तप दो प्रकार का होता है एक वाह्य तप और दूसरा अन्तरङ्ग तप । जो तप वाह्य द्रव्य की अपेक्षा होता है, और सब को वाहर से दीखता है वह वाह्य तप कहलाता है । जिस तप का साधन मनके निरोध द्वारा किया जाता है और जो वाह्य से दूसरों को दिखाई नहीं देता वह अन्तरङ्ग तप है ।

अनशनमवमौदर्य्यं विविक्तशय्यासनं रसत्यागः ।
कायक्लेशो वृत्तेः संख्याच निषेव्यमिति तपो वाह्यम् १९८

वाह्य तप छह प्रकार का होता है । १ अनशन—लौकिक मान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बड़ाई की वांछा न करके संयम सिद्धि के अर्थ, कर्मों के क्षय के निमित्त, कषाय भावों को दूर करने के अभिप्राय से, ध्यान स्वाध्याय की सिद्धि के लिये, स्वाद्य, खाद्य लेय और पेय चार प्रकार के आहार के त्याग करने का नाम अनशन है। २ अवमौदर्य्य—संयम की सिद्धि के अर्थ, निद्रा को जीतने के लिये सन्तोष, स्वाध्याय की प्राप्ति के निमित्त, भूख से थोड़ा आहार लेने का नाम अवमौदर्य तप है। ३ विविक्तशय्यासन—जीवों की रक्षार्थ, प्रासुक क्षेत्र में, ब्रह्मचर्य पालक तथा स्वाध्याय, ध्यानाध्ययनादिक क्रियाओं को निर्विघ्नता पूर्वक करने के लिये पर्वत गुफा, वस्तिका, श्मशान भूमि बन खण्डर आदि एकान्त स्थानों में सोने बैठने का नाम विविक्तशय्यासन—तप है। ४ रसपरित्याग-इन्द्रियों के दमनार्थ, स्वाध्याय आनन्द की प्राप्ति के लिये, आलस्य तथा निद्रा को जीतने के निमित्त दूध, घी, तेल, मीठा, नमक आदि सब रसों का या कुछ का त्याग करना रसपरित्याग कहलाता है। ५ कायक्लेश शरीर से ममत्व भाव को त्याग कर कठिन २ रीति से तपस्या करते हुऐ, पीड़ा के सहन करने को कायक्लेश नामा तप कहते हैं। इस तप के करने से सुख की अभिलाषा क्षीण होती है, राग का अभाव होता है। दुःख सहन करने की सामर्थ्य प्राप्त होती है, जैन धर्म की प्रभावना बढ़ती है। ६ व्रतपरिसंख्यान—इस प्रकार की प्रतिज्ञा करके कि "अमुक आहार मिलेगा, अमुक मुहल्ले में मिलेगा, या अमुक रीति से मिलेगा तो आहार करूंगा अन्यथा नहीं" आहार के लिये जाना, और यदि योग्यभिक्षा विधि न बने, तो वापस बन में आकर उपवासादि करना, इसका नाम व्रतपरिसंख्यान नामा तप है। इस तप से आशा तृष्णा का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नाश होता है।

विनयोवैय्यावृत्त्यं प्रायश्चित्तं तथैव चोत्सर्गः।
स्वाध्यायोऽथ ध्यानं भवति निषेव्यं तपोन्तरङ्गमिति १९९

अन्तरंग तप भी छह प्रकार का होता है। १ विनय—पूज्य पुरुषों का आदर करना विनय तप है। विनय दो प्रकार की होती है। एक मुख्य विनय, दूसरी उपचार विनय। सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को पूज्य बुद्धि से आदर भाव पूर्वक अंगीकार करना मुख्य विनय है। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र इन तीनों के धारण करने वाले आचार्यादिकों को आदर पूर्वक नमस्कारादि करना उपचार विनय है। इन्हीं आचार्यादिकों की भक्ति से प्रेरित होकर परोक्ष रूप में उनके तीर्थ क्षेत्रादिकों की बन्दना करना भी उपचार विनय का ही विशेष भेद है। विनय तप से मान कषायक्षीण होता है, ज्ञानादिक गुणों प्राप्ति होती है। २ वैयावृत्य—पूज्य पुरुषों की भक्ति पूर्वक सेवा चाकरी तथा टहल करना। इसके भी दो भेद हैं। कायचेष्टाजन्य—जैसे हाथ से पांव आदि का दबाना; परवस्तुजन्य—जैसे भोजन में औषधादिक देकर साधुओं के रोग मिटाना। इस तप से गुणानुराग होकर मान कषाय का अभाव होता है। ३ प्रायश्चित—प्रमाद से लगे हुए दोषों को प्रतिक्रमण आदि पाठ अथवा गुरु के सामने, तप व्रतादि अंगीकार करके या कायोत्सर्गादि करके दूर करने को प्रायश्चित्त कहते हैं। इस तप से व्रतादिकों की शुद्धता होती है। परिणामों की शल्य मिट जाती है, और भी अनेक गुणों की प्राप्ति होती है। ४ उत्सर्ग—धन धान्यादिक बाह्य, और क्रोध मानादिक अन्तरङ्ग परिग्रहों में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अहंकार ममकार रूप भावों के त्याग करने को उत्सर्ग तप कहते हैं। इस तप से निष्परिग्रहत्व और निर्भयत्व प्रगट हो कर मोहक्षीण होता है। ५ स्वाध्याय—ज्ञान भावना में आलस्य न करना, जो कुछ आप जानता है, उसको खुद पढ़ना, दूसरों को सुनाना, किसी शब्द तथा अर्थ में संशय हो जाने पर उसे दूर करने के लिये विशेष ज्ञानियों से पूछना, श्रद्धानपूर्वक जाने हुवे अर्थ को मनन करके अभ्यास करना और बारंबार चिंतवन करना, पाठ को शुद्धता पूर्वक बारम्बार घोखना (पढ़ना) धर्म के इच्छुक भव्य पुरुषों को धर्मोपदेश देना। यह स्वाध्याय तप है। इस से बुद्धि का विकाश होता है, परिणाम उज्ज्वल रहते है। संवेग होता है, धर्म की वृद्धि होती है। इत्यादिक अनेक गुणों की प्राप्ति होती है। ६ ध्यान— समस्त चिंता का निरोध कर धर्म में या आत्म चिंतवन में एकाग्र होने का नाम ध्यान है। अर्हन्त आदिक के चिन्तवन में प्रर्वतना शुभ ध्यान हैं। केवल शुद्धात्माओं में एकाग्र होना शुद्ध ध्यान है। ध्यान चार प्रकार का हाता है आर्त ध्यान, रौद्र ध्यान, धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान। इन में से आर्तध्यान और रौद्रध्यान तो सर्वथा ही त्याज्य है। धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान ग्रहण करने योग्य हैं। इन दोनों ध्यानों के सिवाय अन्य समस्त ध्यान भयानक संसार का कारण है। इस तप से चारित्र भाव सम्पूर्णता को प्राप्त होता है, मन वशीभूत होकर अनाकुलता की प्राप्ति होती है, और मन आनन्द में मग्न हो जाता है।

आर्त्त ध्यान तो तीव्र कषाय से होता है और रुद्र ध्यान अति तीव्र कषाय से होता है, धर्म ध्यान मन्द कषाय में होता है और शुक्लध्यान अतिशय कर [बहुत ही] मन्द कषाय होने पर होता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। [१] पहले आर्त्त ध्यान को कहते हैं:—

अनादि काल से संसारी जीव कर्मों के वशी भूत हुवा चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण करता चला आरहा है। जब अशुभ कर्म का अधिक वियोग और शुभ कर्म का अधिक संयोग होता है तो उन शुभ कर्म प्रकृतियों के उदय होने पर यह जीव शुभ गतियों में सुख भोगता है और जब शुभ कर्म का अधिक वियोग होकर अशुभ कर्म का अधिक संयोग होता है तो यह जीव उन अशुभ कर्म प्रकृतियों के उदय होने पर नर्कादि अशुभ गतियों में जाकर दुःख भोगता है इस प्रकार पूर्व संचित शुभाशुभ कर्म के उदय होने पर जीव के जो अप्रशस्त संकल्प विकल्प उत्पन्न होते हैं उसे शास्त्राकार आर्त्तध्यान कहते हैं। यह आर्त्तध्यान चार प्रकार का होता है:—

[क] इष्ट वियोगज—इष्ट पदार्थों का वियोग होजाने पर इस जीव को बड़ी आर्ति [संक्लेश] उपजै है। महा आनन्द और सुख के देने वाले आज्ञाकारी पुत्र की मृत्यु पर, आज्ञाकारी प्राणप्यारीस्त्री के वियोग हो जाने पर, प्यारे मित्र की जुदाई हो जाने पर, संपदा, राज्य ऐश्वर्य भोगसामग्री आदिक देने वाले स्वामी का वियोग होजाने पर, सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने की कारण आजीविका के नष्ट भ्रष्ट होजाने पर, राज्य पद भंग होजाने पर, संपदा का वियोग होजाने पर, विश्राम स्थान घर महल दुकान कोठी बंगला बाग बगीचे आदि जायदाद के नष्ट होजाने पर, सौभाग्य यश कीर्त्ति के भंग होजाने पर, तथा अन्य अनेक ऐसे ही कारणों के जुट जाने पर शोक, भ्रम, भय, मूर्छा आदि का होना; बारर उनकी फिर से प्राप्ति होने के लिये चिंतवन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करना, रुदन करना, दुख में वावला हो विल्लाप करना, बारंबार पीड़ित होना, हाहाकार करना; तिर्यंच गति में जाने का कारण, इष्ट वियोगज नाम का आर्त्त ध्यान है।

[ख] अनिष्ट संयोगजः—अनिष्ट वस्तु का संयोग होने पर जो महा दुख उपजता है, उस समय जीव के जो संकल्प विकल्प तथा चिंतवन होता है। वह अनिष्ठ संयोगज, आर्तध्यान होता है। अपने शरीर का, धन का, यश कीर्ति का, आजीविका, कुटुंबका नाश करने वाले दुष्ट वैरी, दुष्ट राजा तथा राज्य अधिकारी, दुष्ट पड़ौसी, का संयोग मिलने पर; रोगी शरीर, घोर दारिद्र, नीच जाति तथा कुल, निर्बलता असमर्थता; अंग हीनता आदि दुखदायी कारणों के मिलने पर; सिंह व्याघ्र, सर्प, आदि अग्नि जलादि तथा दुष्ट राक्षस चोर डाकू आदि प्राणघात के कारणों के उपस्थित हो जाने पर; दुष्ट भाई वन्धु, दुष्ट स्त्री पुत्रादिका संयोग होने पर दु;ख मय संक्लेश रूप परिणामों का होना और इन कारणों की जुदाई का दूर करने का बार बार चिंतवन करना और विचार करना कि किसी प्रकार भी अनिष्ट वस्तुओं से यदि मेरा पीछा छूटे तो मुझे कुछ आनन्द मिले। इत्यादि संकल्प विकल्प की परंपरा का नाम अनिष्ट संयोगज आर्त्तध्यान है।

[ग] पीड़ा चिंतवन, शरीर में अनेक रोग हो जाया करते हैं, रोग होने पर उस रोग के नाश होने के लिये बार २ संक्लेश रूप परिणामों का होना पीड़ा चिंतवन अथवा रोग जनित आर्त्त-ध्यान है, दूसरे शब्दों में यह कहिये की रोगी अवस्था में मनुष्य के हृदय में जो संकल्प विकल्प रूप विचारों की परंपरा प्राप्त होती है वह रोग जनित आर्त्तध्यान है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(घ) निदान.—आगामी भोगों की चाह से जलना पांचों इन्द्रियों के विषय भोगों की सामग्री प्राप्त होने पर, अपने को भाग्यशाली मानना और विचार करना कि यदि सदैव ही इन संभोगों का संयोग बना रहे तो ठीक हो, निदान नाम का आर्त्तध्यान है। दूसरों को राज्य, ऐश्वर्य, लक्ष्मी भोगता देख, तथा देव देवेन्द्रों की विभूति आदि का वर्णन सुन कर या पढ़कर उन्हें प्राप्त करने के लिये अपने अन्तःकरण में ऐसी अभिलाषा करना कि ऐसी भोग सामग्री अथवा विभूति यदि मुझे मिल जाय तो मैं भी उन भोगों को भोग कर अपने जन्म को सफल करूं, धर्म साधन करके उसके फल रूप संसार सम्बन्धी सुख की इच्छा करना, दूसरों की संपत्ति विभूति आदि को देख ईर्षा करना और संक्लेशित हो झुर झुर मरना यहसब निदान नामका आर्त्त-ध्यान है। आर्त्तध्यान छठे गुण स्थान तक होता है, निदान नाम का आर्त्तध्यान पांचवें गुण स्थान तक ही होता है छठे गुणस्थान में नहीं होता। आर्त्तध्यान कृष्ण, नील, कापात तीनों अशुभ लेश्या वालों के होता है। यह ध्यान पापरूप अग्नि को प्रज्वलित करने के लिये ईंधन के समान है। अनादि काल से ही अशुभ संस्कार के निमित्त से ही यह विना किसी प्रयत्न के संसारी जीवों के पाया जाता है। आर्त्तध्यान बड़ा दुःखदाई है, इसका फल तिर्यंच गति में परिभ्रमण रूप है। यह क्षायोपशमिक भाव है, अन्तर्मुहूर्त इसका काल है। जिसके आर्त्तध्यान होता है उसके बाह्य लक्षण ऐसे होते हैं कि शोक, भय, शंका, भयप्रमाद, कलह, चिंता, भ्रम, उन्माद, जड़ता मुर्छा इत्यादिक अनेक चिन्ह उसके प्रगट होते हैं।

(२) रुद्रध्यान—संसारी जीव अनादि काल से लगे हुये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कम के फंदे में फंसा हुआ संसार में परिभ्रमण कराने वाले दुष्कृत्यों में ही प्रवृत्ति करके आनंदित होता है और उस दुष्कर्म जन्य आनन्द से जीव के अन्तःकरण में जो विचार पैदा होता है वही रौद्र ध्यान है । इस रौद्रध्यान के भी चार भेद हैं:—

(च) हिंसानंद—प्राणियों की हिंसा करके, कराके या दूसरों द्वारा जीवों का घात होते हुवे सुनकर या देख कर हर्ष मानना, दूसरों के धन धान्य आदि विभूति के नष्ट होने में, गृह ग्राम आदि दग्ध करने में शिकार करने में, दूसरों का अपमान करने में दूसरों का हर प्रकार से बुरा चितवन करने में मौज शौक के लिये अन्य जीवों के घात करने में निर्दय मनुष्यों की संगति में उठने बैठने में, अन्याय करने में, युद्ध करके अन्यायपूर्वक दूसरे देशों को विध्वंश करने में, दूसरी गरीब जातियों को अपने वल से उनके धन वल जनवल को नष्ट भ्रष्ट करके दासत्व की वड़ी जंजीरों में जकड़ करके पराधीन बनाये रखने में तथा अन्य ऐसे ऐसे ही कार्यों को करके आनंद मानना सब हिंसानन्द है ।

मृषानन्द—झूठ बोलकर, बुलाकर तथा औरों को झूठ बोलते हुये सुनकर या जानकर आनन्द मानना । झूठे शास्त्र रचना, मिथ्या उपदेश देकर लोगों को बहकाना, विकथा करना, अपनी वचन कला के जोर से झूठे को सच्चा कर दिखाना, सच्चे को झूठा कर दिखाना, दोषियों को निर्दोष ठहराना, निर्दोष को दोषी सिद्ध कर दिखाना, मूर्ख अज्ञानी विचार हीन मनुष्यों को अपनी वचन प्रवीणता से अनर्थ कार्यों में लगा देना, उनकी धन संपदा लूट लेना इत्यादिक कार्यों को करके आनन्द मानना सब मृषानन्द है । जो असत्य की अनेक कल्पनायें करने में, दूसरों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को ठगने के लिये जाल रचने में, ढोंग बनाने में, दूसरों को धोखा देने में निपुण होते हैं उनके मृषानन्द नाम रौद्र ध्यान होता है। यह सब नरक गति का कारण होता है।

(ज) चौर्यानंद—चोरी करके, कराके, चोरी करते हुवे देख कर, सुनकर तथा जानकर आनन्द मानना, रात दिन चोरी के उपाय सोचते रहना, चोरों को बगल में दबाये रखना, चोरी का माल लेना, दूसरों की धरोहर मारने के उपाय सोचना, डाके दहाड़े मार कर मुसाफिरों को लूटना इत्यादि कार्यों में आनन्द मानना चौर्यानंद नाम का रौद्र ध्यान है।

(झ) परिग्रहानंद—परिग्रह बढ़ाकर, बढ़वाकर या किसी को परिग्रह बढ़ाते हुवे देखकर आनन्द मानना—परिग्रह बढ़ाने के उपाय सोचते रहना, परिग्रह की रक्षा की उधेड़, बुन में लगे रहना, परिग्रह सम्बन्धी नाना प्रकार के पापारंभ करते रहना इत्यादि कार्यों सम्बन्धी जो मन में संकल्प विकल्प उठते रहते हैं उन्हीं का नाम तो परिग्रहानंद रौद्रध्यान है।

यह रौद्रध्यान जीवों को महा भयंकर संकट देने वाला होता है, रौद्रध्यानी जीवों का हृदय सदैव कलुषित रहता है। रौद्रध्यानी दूसरों के सुख दुःख की परवाह न करके अपने २ सुख की प्राप्ति की ही इच्छा किया करता है, पहले दर्जे का स्वार्थी होता है, दूसरे जीवों की हिंसा करना तो उसके बांय हाथ का खेल होता है रौद्रध्यानीके सदैव कृष्ण लेश्या होती है। कृष्ण लेश्या परिणामी जीव हिंसा आदि पांचों पाप, मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय, अशुभयोग आदि का सेवन करता रहता है। अशुभ कर्मों का दारुण दुख भोगते समय मनमें अप्रशस्त विचार उत्पन्न होने से आगे के लिये फिर वैसा का वैसा तीव्र कर्म बन्ध करता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसी प्रकार अशुभ विचार जन्य कर्मों के प्रभाव से संसारी जीव संसार चक्र में अनन्त काल पर्यन्त परिभ्रमण करता रहता है। यह रौद्र ध्यान पांचवें गुणस्थान पर्यन्त ही होता है परन्तु अव्रति सम्यक्दृष्टि के या व्रतीसम्यक्दृष्टि श्रावक के रौद्रध्यान नरकादिका कारण नहीं होता है। रौद्रध्यानी के बाहरी लक्षण ऐसे होते हैं, उसके क्रूरता, कठोरता, निर्दयता, कपटीपना दूसरों के दोष निकालने आदि के भाव बने रहते हैं । लाल २ आंखें करना, भृकुटी चढ़ाये रखना, डरावनी शक्ल बनाना, दुष्ट वचन बोलना इत्यादिक सब रौद्रध्यानी के चिन्ह हैं, रौद्रध्यान क्षयोपशम भाव है, इसका काल भी अन्तरमुहूर्त्त है।

ऐसे चार प्रकारका आर्त्तध्यान और चार प्रकार का रौद्रध्यान दोनों ही त्यागने योग्य है, महाभय के कारण है, दुर्गति के कारण हैं, धर्मध्यान और शुक्लध्यान के बाधक हैं, ऐसा समझकर धर्मार्थी प्राणियों को चाहिये कि कभी भी आर्त्तध्यान रूप भाव अपने न होने देवें।

(३) धर्मध्यान—धर्मध्यान सम्यक्दृष्टि बिना मिथ्या दृष्टि के नहीं होता ऐसा नियम है. धर्मध्यान चौथे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान पर्यन्त होता है। धर्मध्यान चार प्रकार का होता है:—

(ट) आज्ञाविचय—भगवान सर्वज्ञ वीतराग द्वारा प्रतिपादित आगम की आज्ञानुसार पदार्थोंके स्वरूपका निश्चय करना आज्ञा विचय धर्मध्यान है। इस ध्यान का ध्याता अपने मन में ऐसा चिन्तवन करे कि वीतराग सर्वज्ञ देवने प्रवचन द्वारा पदार्थों का जो निरूपण किया है वह सत्य है, पदार्थों का स्वरूप यदि अपनी समझ में नहीं आता तो विचारे कि यह मेरी ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बुद्धि की मंदता है, दूषम काल का प्रभाव, अथवा संशय दूर करने वाले विशेष ज्ञानी गुरु का अभाव इसका कारण है। निःस्वार्थ सर्वजीवों के हितकारी श्री तीर्थंकर सर्वज्ञ देव ने अपने केवल ज्ञान द्वारा जो वस्तु का स्वरूप कहा है उसमें रंचमात्र भी कोई फेर फार नहीं है वह सर्वथा सत्य है यथार्थ है। सर्वज्ञ वीतराग भगवान द्वारा कथित वस्तुस्वरूप अन्यथा हो नहीं सकता। जिनेन्द्र के परमागम का पढ़ना, सुनना, चिन्तवन करना अनुभव करना सब आज्ञा विचय है। ऐसे परमागम के पढ़न से सुनने से मिथ्यात्व का नाश होता है, पाप रूप प्रवृत्ति छूटती है, विषय कषाय शरीर भोगादि से विरक्तता होती है, दया धर्म की वृद्धि होती है। ऐसे आगम के शब्द का अर्थ का चिन्तवन करना आज्ञा विचय धर्म ध्यान है।

(ठ) अपाय विचय ——अनादि काल से संसारी जीव मिथ्यात्व, अज्ञान कषायादि के वशीभूत हो अनेक दुःख भोग रहे हैं, मैं भी उनमें से एक हूं, मैं भी दुःख भोग रहा हूं। सुख की प्राप्ति के हेतु इन मिथ्यात्वादि आत्म शत्रुओं का विनाश कैसे होवे, मेरे राग द्वेष भाव का नाश कैसे होवे, जगत के प्राणियों का अज्ञान कैसे मिटे, वे कैसे परपरणति से छूट अपने निजस्वभाव में रमण करें, इत्यादि अपने और अन्य जीवों के आत्म कल्याण के उपायों का विचार करना अपाय विचय धर्म ध्यान है।

(ड) विपाक विचय——कर्म तथा कर्म फल का चितवन करना और अपने शुद्ध स्वरूप को उनसे सर्वथा भिन्न अनुभव करना चिंतवन करना, विपाक विचय है। संसार में जितने भी प्राणी हैं सब ही अपने २ कर्मोदय के अनुसार सुख दुःख भोगते हैं, यदि कर्मोदय के समय कर्मफल को हर्ष विषाद

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रहित होकर समता भावपूर्वक यह संसारी जीव सहन कर लेता है तो आगे के लिये कर्म का बन्धन नहीं होता, यदि उसमें राग द्वेष भाव करता है तो नवीन कर्म का बन्ध होता है जो फिर उदय में आकर फल देता है। इस प्रकार यह चक्र चलता रहता है। जब आत्मा इस प्रकार के कर्मचक्र से सर्वथा रहित होजाता है तो मोक्ष हो जाता है। संसार में सब पर्य्यायें, पराक्रम संपदा विभव, परिवारादि कर्मोदय जनित हैं, मेरे स्वरूप से भिन्न हैं मेरा अपना स्वरूप ज्ञाता द्रष्टा है, अविनाशी अखंड है, कर्मोदय जनित परणति से भिन्न है। इस प्रकार कर्मोदय जनित परणति से अपने को जुदा अनुभव करना, रागद्वेष मोहादिक विभावों से अपने शुद्ध स्वभाव को भिन्न अवलोकन करना विपाक विचय है। कर्मोदय को अपने स्वरूप से भिन्न जानो—अनेक जीवों की तथा पुद्‌गल की रचना विशेष तथा संयोग वियोगादि को देख रागद्वेष रहित परम साम्य भाव को धारण करो जिससे पूर्व वद्ध कर्म की निर्जरा हो जावे और नवीन बन्ध न होवे। इस प्रकार विपाक विचय धर्म ध्यान का चिंतवन करने से मनुष्य कर्मों की विचित्रता से परिचित हो जाता है और कर्मों का स्वरूप समझ नवीन कर्म बंध से बच, पूर्व संचित कर्म समूह को ज्ञान ध्यानाग्नि के बल से नष्ट करके अनन्त शास्वत सुख का भोगी बनता है।

(ढ) संस्थान विचय—लोक के स्वरूप का चिंतवन करना संस्थान विचय धर्म ध्यान है। लोक अकृत्यम् है, कोई इसका विगाड़ने वाला या इसके रचने वाला नहीं है, अनादि निधन है, छह द्रव्य मई है। ये छह द्रव्य जीव, पुद्‌गल धर्म अधर्म, आकाश और काल अनादि निधन हैं इनका कोई कर्ता हर्ता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं है। असत् को कोई सतरूप कर नहीं सकता। सत् वस्तु का कभी नाश नहीं होता और असत् कभी उत्पाद नहीं होता। "सत्द्रव्य लक्षमणम्" इस सूत्र के अनुसार द्रव्य का लक्षण सत् है अर्थात् जो सत् रूप है वही द्रव्य है। "उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तंसत्" जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनों धर्म एक साथ निरन्तर पाये जावें वही सत् और वही द्रव्य है। जैसे सोने से कुंडलों का कड़े रूप होना उत्पाद है और कुंडल रूप अवस्था का नष्ट होना विनाश या व्यय है, पीलापन भारीपन आदि अपनी जाति को लिये हुवे दोनों अवस्थाओं में मौजूद रहना ध्रौव्य है। उत्पाद विनाश पर्याय की अपेक्षा से हैं। जितने चेतन अचेतन पदार्थ हैं द्रव्यार्थिक नय से न विनशते हैं न उपजते हैं, अविनाशी एक रूप हैं, पर्य्यायार्थिक नय की दृष्टि से देखा जावे तो समय २ पूर्वपर्याय का नाश और उत्तर पर्य्याय का उत्पाद होता रहता है। द्रव्य ध्रौव्य है, उपजता विनशता नहीं। उपजना विनशना पर्य्याय का है एक रूप रहे नहीं। द्रव्य का नाश कभी होता नहीं; छह द्रव्यों के समुदाय का नाम ही तो लोक है। लोक कोई अन्य वस्तु रूप है नहीं। इस प्रकार ध्रौव्य, उत्पाद व्ययात्मक अनन्तानन्त पदार्थों से परिपूर्ण अनादि अनन्त लोक की व्यवस्था का चिन्तवन करना संस्थान विचय नाम का धर्म ध्यान है। द्वादश भावनाओं का चिंतवन इसी ध्यान में किया जाता है।

धर्मध्यान पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत भेद रूप भी चार प्रकार का होता है, जैसा कि कहा है:—

"पदस्थंमंत्र वाक्यस्थं पिंडस्थं स्वात्मचिंतनम्।
रूपस्थं सर्व चिद्रूपं रूपातीतं निरंजनम्॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[अ] पिंडस्थध्यान—पिंडनाम शरीर का है, शरीर में स्थित पुरुषाकार अमूर्त्तीक अनन्तचतुष्टय संयुक्त जैसा परमात्मा का स्वरूप वैसा ही अपने आत्मा का चितवन करना पिंडस्थध्यान है। इस पिंडस्थ ध्यान के अभ्यास के लिये नींचे लिखी पांच धाराणाओं के जमाने का अभ्यास करना चाहिये (१) पृथ्वी धारणा—एक बड़ा भारी निर्मल समुद्र मध्यलोक के समान विचारा जावे, उसके बीच में जंबूद्वीप के समान एक लाख योजन का चौड़ा एक कमल ताए हुवे सोने के समान रंग का और एक हजार पत्र सहित विचारा जावे। कमल के बीच में कर्णिका के स्थान में सुवर्ण रंग का पीला सुमेरु पर्वत एक लाख योजन ऊंचा विचारा जावे, उस मेरु पर्वत के ऊपर पांडुक बन में एक पांडुक शिला विचारी जावे, उस पर एक स्फटिक मणि का सिंहासन विचारा जावे, उस सिंहासन पर निज आत्मा को शुद्ध करने के लिये पद्मासन बैठा हूं, ऐसा विचार किया जावे, इतना ध्यान बार बार करना पृथ्वी धारणा है।

[२] अग्नि धारणा–अपने को वहीं बैठा हुआ विचार करे। और फिर यह सोचे कि मेरे नाभि कमल के स्थान पर अन्दर ऊपर को उठा हुआ सोलह पत्रां का एक सफेद रंग का कमल है। उस पर पीत रंग के सोलह स्वर लिखे हैं—अ, आ, इ ई, उ ऊ, ऋ ॠ, ऌ ॡ, ए ऐ, ओ औ, अं अः बीच में "ह्रँ" अक्षर लिखा है। एक और दूसरा कमल हृदय स्थान पर नाभि कमल के ऊपर आठ पत्रों का औंधा [उल्टा] विचार जावे, इस कमल को ज्ञाना वरणादि अष्ठ कर्मों का कमल माने, फिर विचारे कि "ह्रँ" के रेफ से धूंआ निकला फिर अग्नि की लौ निकली और वह ऊपर को उठकर अष्टकर्म के कमल को भस्म करने लगी। कमल के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बीच से अग्नि लौ फूट कर ऊपर मस्तक पर आगई फिर उसकी एक लाइन [line] शरीर के एक तरफ़ दूसरी लकीर [line] शरीर की दूसरी तरफ़ आगई, नीचे जाकर दोनों लाइनें मिलगईं। इस प्रकार एक अग्निमय त्रिकोण ने शरीर को सब तरफ़ से घेरा हुआ विचार करे। इस त्रिकोण में ररररर अक्षरों को अग्निमय फैले हुवे विचारे अर्थात् तीनों बाज़ू [sides] अग्निमय रर अक्षरों से बने हैं। इस त्रिकोण के बाहरी तीनों कोनों पर अग्नि-मय साथिया विचारे व अन्दर तीनों कोनों पर अग्निमय "ॐर" लिखा विचार करे, फिर सोचे कि भीतरी अग्नि की ज्वाला कर्मों को व बाहरी अग्नि की ज्वाला शरीर को जला रही है। जलते २ राख बन रही है, जब सब राख होगई तब अग्नि बुझ गई या पहले के रेफ में ही जहां से शुरू हुई थी समागई। इतना अभ्यास करना अग्नि धारणा है।

[३] वायुधारणा—फिर वहां बैठा हुआ यह विचार करे कि मेरे चारों ओर बड़ी प्रचण्ड पवन चल रही है, पवन का एक गोल मंडल बन गया है। उस मंडल में कई जगह स्वाय २ लिखा है। यह पवन मंडल कर्म की तथा शरीर रज को उड़ा रहा है। आत्मा स्वच्छ हो रहा है ऐसा विचारना।

[४] जल धारणा—फिर वहां बैठा यह सोचे कि मेघों की घटायें आगईं, बिजली कड़कने लगी, बहुत जोर से पानी बरसने लगा। पानी का अपने ऊपर एक अर्ध चंद्राकार मंडल बन गया जिस पर पपपप कई जगह लिखा है। यह पानी की धारायें आत्मा के ऊपर लगी हुई रज को धोकर आत्मा को साफ़ कर रही है ऐसा सोचो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[५] तत्वरूपवती धारणा—फिर वही सोचे कि मेरा आत्म सिद्ध सम शुद्ध है, अब इसमें न तो कर्म हैं, न शरीर है।

साधक के लिये इस ध्यान का अभ्यास बड़ा आवश्यक और उपयोगी है।

[अ] पदस्थ ध्यान—मंत्र पदों के द्वारा अरहंत, सिद्ध आचार्य, उपाध्याय व साधु पंच परमेष्ठी का तथा आत्मा के स्वरूप का विचार करना पदस्थ ध्यान है। इस के बहुत से भेद हैं। महामंत्र नमोकार मंत्र के पैंतीस अक्षर प्रसिद्ध हैं एकाग्र चित्त करके उनका ध्यान लगावे।

"णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमोलोए सव्व साहूणं ॥"

इस मंत्र के संक्षेप से:—

"अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय सर्व साधुभ्योनमः"

सोलह अक्षर हैं, उनका ध्यान करे। "अरहंत सिद्ध" ऐसे छह अक्षर रूप मंत्र का ध्यान करे। "असिआउसा" ऐसे पंच अक्षर रूप मंत्र का ध्यान करे। "अरहंत" चार अक्षर के मंत्र का ध्यान करे। "सिद्ध", "अर्ह" इन दो अक्षर वाले मंत्रों का ध्यान करे।

ॐ ऐसे एक अक्षर के मंत्र का ध्यान करे। और भी पंच परमेष्ठी के वाचक अनेक मंत्रों का ध्यान यथा शक्ति करे, यह सब मंत्र पंच परमेष्ठी के वाचक हैं इनका ध्यान करते हुवे पंच परमेष्ठी का स्मरण करे उनके गुणों का ध्यान करे, उन्हीं गुणरूप साक्षात् अपनी आत्मा का ध्यान करे। इन मन्त्रों का ध्यान कर्म की निर्जरा करने वाली वीतरागता का मुख्य कारण है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[३] रूपस्थ ध्यान—अरहन्त भगवान का स्वरूप विचारे कि वह समवशरण में बारह सभाओं के मध्य में ध्यानस्थ विराजमान हैं, वे अनंत चतुष्टय संयुक्त हैं, परम वीतराग हैं। अथवा किसी भी जिनेन्द्र की ध्यानस्थ मूर्ति का विचार कर उसका ध्यान करे, फिर उसके द्वारा शुद्धात्म का ध्यान करे।

[४] रूपातीत ध्यान—शरीरादिक नौ कर्म, ज्ञानावरणादिक द्रव्य कर्म रहित, चैतन्य स्वरूप निजानंद मय शुद्ध अमूर्त्त अविनाशी, अजर, अमर, स्पर्श रस गंधवर्णादि पुद्गल विकार रहित अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत शक्ति, अनंत सुख, स्वभाव स्वाधीन, निराकुल, अन्तींद्रिय सिद्ध कृतकृत्य ऐसे शुद्धात्मा के स्वभाव का चिंतवन करना रूपातीत ध्यान हैं।

[४] शुक्लध्यान—यह ध्यान भी चार प्रकार का होता है पृथक्त्व वितर्क वीचार, एकत्व वितर्क वीचार, सूक्ष्म क्रिया प्रतीपात व्युपरत क्रिया निवर्त्ति।

[क] पृथक् वितर्क विचार—इस ध्यान का स्वरूप समझने से पहले पृथक्त्व, वितर्क, वीचार इन तीनों शब्दों का अर्थ जान लेना जरूरी है—

वितर्क श्रुत ज्ञान को कहते हैं। विशेष प्रकार से तर्क करने को वितर्क कहते हैं। शब्द श्रवण पूर्वक अर्थ ग्रहण को श्रुतज्ञान कहते हैं।

अर्थ, व्यंजन, और योगों के पलटने का नाम वीचार है। ध्येय द्रव्य को छोड़ कर उसकी पर्याय का ध्यान करने को और पर्याय को छोड़ कर द्रव्य का ध्यान करने को अर्थ संक्रान्त कहते हैं। श्रुत के एक वचन का अवलम्बन करके अन्य का अवलम्बन करने को और उसको छोड़कर दूसरे का अवलम्बन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करने को व्यंजन संक्रान्ति कहते हैं। काय योग को छोड़ कर मनोयोग व वचन योग के ग्रहण करने को और मनोयोग व वचनयोग को छोड़ कर काय योग के ग्रहण करने को योगसंक्रांति कहते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन का नाम विचार है।

प्रथक्—जुदा २, भिन्न २, न्यारा २, पहले पृथक्त्व वितर्क विचार नाम के शुक्ल ध्यान में अबुद्धि पूर्वक तीन प्रकार का परिवर्त्तन होता है।

[१] मन बचन काय में से किसी योग का [२] एक शब्द से दूसरे शब्द का [३] एक ध्येय पदार्थ से दूसरे ध्येय पदार्थ का। जैसे, आत्म द्रव्य से, आत्मा के किसी गुण पर्याय का। यह ध्यान आठवें से ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है।

[२] एकत्व वितर्क अविचार—किसी एक योग के द्वारा एक शब्द के द्वारा किसी एक ध्येय पदार्थ पर उपयोग का रुक जाना।

पहला शुक्ल ध्यान तो वितर्क विचार दोनों सहित होता है और यह दूसरा वितर्क सहित होता है परन्तु विचार रहित होता है। यह दूसरा शुक्ल ध्यान बारहवें गुणस्थान में होता है। यह दोनों ध्यान पूर्व के जानने वाले अर्थात् श्रुत केवली के होते हैं।

[३] सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति—जब काय बहुत सूक्ष्मता से चलता है। यह ध्यान तेरहवें गुणस्थान में अरहन्त केवली के होता है।

[४] व्युपरत क्रिया निवर्त्ति—इस ध्यान में योगों का हलन चलन बन्द हो जाता है। इसका काल इतना कम है जितनी देर में अ, इ, उ, ऋ, लृ, इन पंच लघु अक्षरों का उच्चार किया जा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सके। इसी शुक्ल ध्यान के प्रताप से यह जीव सर्व कर्मों से व शरीर से रहित हो मुक्त व सिद्ध हो जाता है। यह ध्यान प्रयोग केवली ही के होता है। ध्यान की महिमा विचित्र है, जैसे संकट के समय एक मित्र सहायक होकर संकट से रक्षा करता है, वैसे ही संक्लेश रूप संकट से ध्यान आत्मा का रक्षण करता है। जैसे शस्त्र रहित वीर पुरुष युद्ध में शत्रु का नाश नहीं कर सकता है, वैसे ही ध्यान के बिना कर्म शत्रु को नहीं जीता जा सकता। कषायों को नष्ट करने का सामर्थ्य ध्यान में ही है। ध्यान से आत्म बल बढ़ता है। जैसे रोग की परीक्षा करने में कुशल वैद्य रोग दूर कर मनुष्य को सुखी बनाता है, वैसे ही ध्यान भी वैद्य के समान कषाय रूप रोग की परीक्षा कर उसको नष्ट भ्रष्ट कर डालता है। जैसे अन्न से भूख नष्ट होती है, वैसे ही विषय कषाय रूपी क्षुधा भी ध्यान रूपी अन्न से दूर होती है। जैसे पानी से प्यास बुझती है वैसे ही ध्यान रूपी जल से विषय रूपी प्यास शाँत होती है। ऐसा जान प्रशस्त ध्यान में प्रवृत्ति करना मुमुक्षुओं का एक परम कर्तव्य है।

जिनपुङ्गव प्रवचने मुनीश्वराणां यदुयक्तमाचरणम्
सुनिरूप्य निजां पदवीं शक्तिं च निषेव्यमेतदपि ॥२००॥

इस ग्रन्थ में मुख्यता से गृहस्थाचरण का ही वर्णन किया गया है, मुनि आचरण का जो कुछ भी थोड़ा बहुत वर्णन किया गया है, वह भी गृहस्थाचार के प्रयोजन से ही किया गया है। जिस प्रकार मुनीश्वर मोक्ष मार्ग के साधन में सर्वदेश प्रवृत्ति करते हैं, उसी प्रकार गृहस्थी का भी मोक्ष मार्ग में एकोदेश प्रवृत्ति करना कर्तव्य है। इसलिए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रावकों को भी अपनी पदवी के अनुसार अपनी योग्यता और शक्ति का विचार करके मुनियों के आचरण को भी एकोदेश ग्रहण करना चाहिये।

इदमावश्यक षट्कं समतास्तववन्दना प्रतिक्रमणाम्।
प्रत्याख्यानं वपुषो व्युत्सर्गश्चेति कर्तव्यम् ॥२०१॥

साधुओं के षट आवश्यक यह हैं। १. समता—राग द्वेष रहित, साम्य भाव करना अर्थात् सामायिक करना। २. स्तवन—तीर्थकरके गुणों का कीर्तन करना, उनके गुणों की महिमा गाना, स्तुति करना। ३. वन्दना—तीर्थंकर को नमस्कार करना, उनके सन्मुख सिर आदि अंगों को नम्री भूत करना। ४. प्रतिक्रमण—प्रमाद द्वारा लगे हुए पिछले दोषों को दूर करना। ५. प्रत्याख्यान—त्याग भाव से आगामी काय संबन्धी आस्रव का रोकना। ६. कायोत्सर्ग-काय से ममत्व भाव का त्याग करना। सामायिक या ध्यान के समय पाषाण की मूर्ति के समान निष्कम्प और अचल होना, ऐसा कि अनेक कारण मिलने पर भी चलाचल न होवे। इन छहों क्रियाओं का नित प्रति करना जरूरी है। इसीलिये इनको षट आवश्यक क्रिया कहा जाता है। मुनियों को तो इन को नित प्रति करना ही पड़ता है, श्रावकों को भी चाहिये कि अपनी पदवी के अनुसार जो क्रिया उनसे बन सके उस को ग्रहण करें।

सम्यग्दण्डो वपुषः समयग्दण्डस्तथा च वचनस्य।
मनसः सम्यग्दण्डो गुप्तीनां त्रितयमवगम्यम् ॥२०२॥

भले प्रकार मन वचन काय योगों की यथेच्छा प्रवृत्ति के रोकने को गुप्ति कहते हैं। गुप्ति तीन हैं—१. मनोगुप्त—ख्याति,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लाभ,मानकी बांछा के बिना,मनोयोग को रोकना। २. वाग्गुप्ति—ख्याति, लाभ, मान की बांछा के बिना, बचनयोग को रोकना। ३. कायगुप्ति—ख्याति, लाभ, मान बांछा के बिना, काययोग को रोकना। गुप्ति ही मुनि पद का मूल है, गुप्ति बिना सम्यक् चारित्र नहीं होता और सम्यक् चारित्र बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

सम्यग्गमनागमनं सम्यग्भाषा तथैषणा सम्यक्।
सम्यग्ग्रहनिक्षेपो व्युत्सर्गः सम्यगितिसमितिः ॥२०३॥

समिति—सावधान्ता पूर्वक प्रवृत्तिको समिति कहते हैं। समिति पांच होती हैं। 'ईर्या भाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितियः।' [तत्वार्थसूत्र अ० ६, सू० ५] १. ईर्या समिति—"परमाद तज चौकर मही लखि समिति ईर्यातेचलें" परम अहिंसा के धारक, जीवों की उत्पत्ति स्थानों के जाननहार साधु सावधान होकर, सूर्योदय के बाद, जब हर एक चीज अच्छी तरह से दिखाई देने लगे, और पृथ्वी मनुष्य, हाथी, घोड़े, गाड़ी आदि के चलने फिरने से मर्दित होकर प्रासुक हो जावे, तब आगे की चार हाथ प्रमाणभूमि को भले प्रकार देख कर धीरे २ चलते हैं। इस प्रकार चलने की क्रिया का नाम सम्यगीर्या-समिति है। २. भाषासमिति—"जग सुहित कर सब अहित हर श्रुति-सुखद सब संशय हरे। भ्रमरोग हर जिन के बचन मुख चन्द्र तें अमृत झरे।" हित, मित, सन्देह रहित बचनों का बोलना, कर्कश, निष्ठुर, अप्रिय वचन न बोलना। इसका नाम सम्यक् भाषा समिति है। ३. एषणासमिति—विधिपूर्वक दिन में एक बार निर्दोष आहार ग्रहण करना, "छयालीस दोष बिना, सुकुल श्रावक तने घर अशन को;

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लें तप बढ़ावन हेतु नहिं तन पोषते, तज रसन को"। मुनिराज छ्यालीस दोषों को टाल कर कुलीन श्रावक के घर केवल तपवृद्धि के अभिप्राय से, दिन में एक बार आहार लेते हैं, शरीर को पुष्ट करने का उनका प्रयोजन नहीं होता। इस का नाम सम्यक् एषणासमिति है। ४. आदान निक्षेपण समिति---शरीर, पुस्तक, कमण्डल आदि उपकरणों को देख कर और पीछी से शोध कर यत्नाचार पूर्वक उठाना तथा रखना। इसका नाम सम्यगादान निक्षेपण समिति है। "शुचि ज्ञान सञ्जम उपकरण, लखि कर गहें, लखि के धरें।" ५. व्युत्सर्गसमिति—नेत्रों से देख कर, यत्नाचार पूर्वक प्रासुक जीवजन्तु रहित भूमि पर मलमूत्रादि को डालना। भूमि गीली न हो, उस में हरे अंकुरे न फूट रहे हों, लोगों के आने जाने के रास्ते से दूर हो, ऐसे स्थान में मलमूत्र डालना। इसका नाम व्युत्सर्गसमिति है। "निर्जन्तु थान विलोक तनमल, मूत्र श्लेषम परिहरें"। ये पांच समिति मुनिव्रत का मूल हैं। मुनिराज अपने चारित्र की शुद्धि के लिये इन का निर्दोष पालन किया करते हैं। श्रावकों को भी यथा शक्ति इन का पालन करना चाहिये। मुनिराज तो पूर्णतया पालन करते हैं, श्रावक एकोदेश कर सकते है।

धर्मः सेव्यः क्षान्तिर्मृदुत्वमृजुता च शोचमथ सत्यम्।
आकिञ्चन्यं ब्रह्म त्यागश्च तपश्च संयमश्चेति ॥२०४॥

"उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः" (तत्वा० सू० अ० ९ सू० ६) उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिञ्चन्य, उत्तम ब्रह्मचर्य ये दस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्म हैं। १. उत्तम क्षमा—"बिना दोष दुर्जन दुख देय, समरथ होय सकल सह लेय। क्रोध कषाय न उपजे जहां, उत्तम छिमा कहावे तहां"। (पार्श्व पुराण) दुष्ट लोगों के द्वारा तिरस्कार, हास्य, ताड़न, मारण आदि क्रोध की उत्पत्ति के कारण मिलने पर भी और अपने में सामर्थ्य होते हुये भी, परिणामों में क्रोध कषायरूप मलिनता न लाने को उत्ताम क्षमा कहते हैं। क्रोध कषाय जीव का एक महान वैरी है, इस क्रोध वैरी का जीतना क्षमा है। क्रोध इस जीव के सन्तोषभाव, निराकुलताभाव आदि समस्त ही गुणों को दग्ध करने के लिये अग्नि के समान है। क्रोध जीव की बुद्धि को भ्रष्ट कर निर्दयी बना देता है। वे जीव लोक में पुण्यवान हैं, जिन के क्षमा गुण प्रगट होता है। जहां उत्तम क्षमा होता है, वहाँ रत्न त्रय धर्म होता है। विद्वानों के लिये उत्ताम क्षमा चिन्तामणि रत्न के समान है। मिथ्यात्वरूपी अन्धकार को दूर करने के लिये उत्ताम क्षमा दीपक के समान है। जहाँ असमर्थ जीवों के दोष क्षमा किये जाते हैं, जहाँ असमर्थों के ऊपर क्रोध नहीं किया जाता, जहाँ आक्रोश वचनों को समता भाव के साथ सहन किया जाता है, जहाँ दूसरों के दोष प्रगट नहीं किये जाते, जहां चित्त में आत्मा का चैतन्य गुण धारण किया जाता है, वहां ही उत्तम क्षमा होती है। उत्तम क्षमा का धारण करने वाला जीव समस्त लोक में पूज्य होता है, परम्परा से मोक्ष को प्राप्त होता है।

२. उत्तममार्दव—

"आठ महा मद पाय अनूप, निरभिमान वरतै मृदु रूप।
मान कषाय जहां नहीं होय, मार्दव नाम धरम है सोय॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुलमद, जातिमद, रूपमद, ज्ञानमद, धनमद, बलमद, तपमद प्रभुतामद इन आठ प्रकार के मद अर्थात मान न करने को उत्तम मार्दव कहते हैं। मान कषाय का अभाव होने पर ही मार्दव नामा गुण आत्मा में प्रकाशमान होता है। मार्दव धर्म दया धर्म का मूल कारण है, जिसके हृदय में मार्दवगुण होता है वह सब जीवों का हित करने वाला होता है। मार्दव गुण सहित जीवों का ही व्रत पालना, संयम धारण करना, ज्ञान का अभ्यास करन सफल है, अभिमानी का निष्फल है। अभिमानी के जिनेन्द्र भगवान के गुणों में भी प्रति नहीं होती, और अन्य साधारण पुरुषों की विनय करने की तो बात ही क्या है? मार्दव धर्म से ही जिनेन्द्र देव की भक्ति प्रकाश होती है, मार्दव धर्म कुमति का नाश करने वाला है। दर्शन, ज्ञान, चरित्र विनय और व्यवहार विनय मार्दव धर्म से ही बढ़ती हैं। मार्दव धर्म से आत्मा के परिणाम अत्यन्त निर्मल हो जाते हैं। मार्दव गुण का धारी पुरुष तीनों लोक को मोहित कर लेता है। मार्दव गुण के धारी, बालक का, बूढ़े का, निर्धन का, रोगी का, मूर्ख का तथा जाति कुलादि हीन पुरुषों का भी यथायोग्य प्रिय वचनों द्वारा तथा यथायोग्य स्थान-दान द्वारा आदर सत्कार करने में कदाचित भी नहीं चूकते। वे कभी भी न कोई उद्धत्ता का वचन कहते हैं और न कोई अन्य उद्धत्ता का व्यवहार करते हैं, वे सदैव ही उद्धत्ता रहित, अभिमान रहित, नम्रता तथा विनय सहित ही जगत में प्रवर्तते हैं। ऐसा जान मान, कषाय का अभाव कर, मार्दव गुण का प्रकाश करना ही भव्य आत्माओं का कर्तव्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३. उत्तम आर्जव:—

जो मनचिंते सो मुख कहे,करे कायसों कारज वहे।
माया चार न उरपाइये, अर्जव धर्म यही गाइये ॥

मन बचन काय की कुटिलता के अभाव का नाम आर्जव है, अर्थात् कपट, छल, फ़रेब, दग़ाबाज़ी के त्याग को आर्जव कहते हे। मायावी पुरुष के व्रत, संयम, तपश्चरणादिक सभी निष्फल होते हैं। माया एक शल्य है, जिसके हृदय में शल्य है वह "निःशल्यो व्रती" के अनुसार वाह्य में व्रतादिक के करते हुवे भी व्रती नहीं कहा जा सकता। आर्जव धर्म आत्मा का एक गुण है जो माया कषाय के अभाव से प्रगट होता है। आर्जव धर्म अतिन्द्रय सुख का पिटारा है, संसाररूप समुद्र से पार होने के लिये जहाज़के समान है,अंतीन्द्रीय अविनाशी सुखको प्राप्तकराने हारा है। ऐसा जान कुटिलता को त्याग, आर्जव धर्म का धारण करना ही योग्य है।

४. उत्तम शौच:—

पर कामिनि पर दरव संभार, जो विरक्त वर्ते छल छांर।
अन्तर शुद्ध होय सर्वंग, सोई शौच धर्म को अंग ॥

अन्तरंग में लोभ कषाय के अभाव होने को और बाह्य में शरीरादिक के पवित्र रखने को शौच कहते हैं। स्नान रूप वाह्य शौच ग्रहस्थों के ही लिये है, मुनियों के लिये नहीं। शौच धर्म आत्मा का एक अखंड गुण है, लोभ कषाय के अभाव होने से प्रगट होता है, शास्त्रों के पठन पाठन से, उत्तम २ गुणों के मनन करने व विचार करने से शौच धर्म होता है। माया, मिथ्या, निदान इन तीन शल्यों के अभाव और क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों के त्याग से शौच धर्म होता है। ब्रह्मचर्य व्रत का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धारण करना ही शौच धर्म है, आत्मा के निर्मल परिणाम होने से शौच धर्म है, शौच धर्म का ऐसा स्वरूप जान, अपने निज-स्वरूप में दृष्टिधार अशुभ भावों का अभाव कर अपने आत्मा को शुद्ध करो।

५. उत्तमसत्य—

बोले बचन स्वपरहितकार, सत्य स्वरूप सुधा उनहार।
मिथ्या बचन कहे नहिं भूल, सोई सत्य धर्म तरु मूल॥

मीठे, हित मित, स्वपर हितकारी सत्य बचन बोलना कुवचन का त्याग करना, इसका नाम उत्ताम सत्य है। सत्य बचन दया धर्म का कारण है, समस्त दोषों को दूर करने वाला है, इस भव और परभव में सुख देने वाला है, सत्य बचन संसार में निरुपमेय है। सत्य धर्म से अन्य गुणों की महिमा बढ़ती है। सत्य धर्म से समस्त आपत्तियां नाश हो जाती हैं। ऐसा जान सदाहित-रूप और परिमित बचन कहो, दूसरे को दुख पहूंचाने वाले या दूसरेको किसीप्रकार भी बाधा करनेवाले बचन कदापि न कहो।

६. उत्तम संयम—

मन समेत ये इन्द्री पञ्च, इनको शिथिल करे नहीं रञ्च।
त्रस स्थावर की रत्ता जोय, संयम धर्म बखान्या सोय॥

पांच इन्द्रिय और मन का निरोध करना, तथा छह काय के जीवों की रत्ता करना संयम कहलाता है। यह संयम दो प्रकार का होता है—१. इन्द्रिय संयम २. प्राण संयम, इन्द्रियों के विषयों में रागभाव को इन्द्रिय संयम कहते हैं। छह काय के जीवों की रत्ता करने का नाम प्राण संयम है। पंच व्रतों का धारण करना, पंच समिति का पालन करना, कषायों का निग्रह करना, मन, वचन, काय तीनों योगों की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना तथा इन्द्रिय विजय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को ही परमागम में संयम कहा गया है। संयम पालना महान दुर्लभ है। संयम सम्यग्दर्शन को पुष्ट करता है, संयम मोक्ष का मार्ग है, संयम बिना मनुष्यभव शुन्य है, गुण रहित है। संयम बिना यह जीव अनेक दुर्गतियों को प्राप्त होता है। संयम बिना दीक्षा ग्रहण करना व्रत धारना मुण्ड मुण्डवाना, नग्न रहना, भेष धारना, ये सब ही वृथा हैं। संयम ही जीव को इस भव में और परभव में शरण है। दुर्गतिरूप सरोवर के शोषण के लिये संयम ही सूर्य के समान है, संसार परिभ्रमण का नाश बिना संयम नहीं हो सकता। ऐसा जान संयम को यथा शक्ति धारण करो और निरन्तर ऐसी भावना करो कि संयम बिना जीवन की एक घड़ी भी न जावे।

७. उत्तम तप—

ख्याति लाभ पूजा सब छण्ड, पञ्चकरण को दीजे दण्ड।
सो तप धर्म कहो जग सार, अनशनादि बारह परकार॥

मान बड़ाई के भाव बिना, कर्म क्षय करने के लिये अनशन आदि बारह प्रकार के तप करना, तथा इच्छा का निरोध करना उत्तम तप है। इच्छा का निरोध कर विषयों में राग घटाना तप है। तप से जीव का कल्याण होता है, काम, निद्रा, प्रमाद को नष्ट करने वाला है। इस लिये मद छोड़ बारह प्रकार तप में से जैसा जैसा करने को अपनी सामर्थ होवे, वैसा ही तप करना चाहिये। अपना संहनन, बल, वीर्य, तथा देश, काल, आहर की योग्यता को देख कर ही तप करना चाहिये। जिस तप में उत्साह बढ़ता रहे और परिणामों की उज्जलता बरती जावे, वही तपश्चरण करना योग्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

८. उत्तम त्याग—

संयमधारी व्रति परधान, दीजै चउ विधि उत्तम दान।
तथा दुष्ट विकलप परिहार, त्याग धर्म बहुसुख करतार॥

सर्व विभाव भावों का त्याग करना, निज चेतन स्वभाव का ग्रहण करना निश्चय त्याग है। व्यवहार में त्याग दान को कहते हैं। नि-परिग्रही होने के कारण मुनि शास्त्र व्याख्यान अर्थात् ज्ञान दान और सर्व जीवों को अभय दान ही दे सकते हैं। श्रावक के लिये जरूरी है कि चार प्रकार का दान, आहार-दान, औषधि दान, शास्त्रदान और अभय दान, पात्रों को भक्ति पूर्वक और दीन दुःखी जीवग को करुणा बुद्धि पूर्वक देवे।

९. उत्तम आकिंचयन्य:—

बाहज परिग्रह को परित्याग, अन्तर ममता रहे न लाग।
आकिंचन्य यह धर्म महान, शिव पद नायक निश्चयजान॥

अन्तरंग तथा वाह्य के २४ प्रकार के परिग्रह के अभाव, को तथा शरीरादिक में ममत्व भाव न रखने को उत्तम आकिंचन्य कहते है। "अपने ज्ञान, दर्शन मय स्वरूप विना अन्य किंचित् मात्र भी हमारा नहीं है। में किसी अन्य द्रव्य का नहीं हूं, मेरा कोई अन्य द्रव्य नहीं है" ऐसे अनुभव को आकिंचन्य कहते हैं। आकिंचन्य परम वीतराग पने की ही दशा का नाम है। आकिंचन्य धर्म मुख्यतया साधुजनों के ही होता है। तथापि एकोदेश धर्म का पालन द्वारा गृहस्थ भी है जो इस धर्म के ग्रहण करने की इच्छा करता है, गृहस्थाचार में मन्द रागी होता है, परिणामों में उदासीनता धारण करता है और प्रमाणिक परिग्रह को ही रखता है। आगामी वांछा रहित होता है, अन्याय का धन कदापि ग्रहण नहीं करता है। अल्प परिग्रह में सन्तुष्ट रहता है,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिग्रह को दुःख देने वाला जान उसे अत्यन्त अस्थिर मानता है।

१०. उत्तम ब्रह्मचर्य—

बड़ी नारी जननी सम जान, लघु पुत्री सम बहन बखान।
तज विकार मन वर्ते जेह, ब्रह्मचर्य परि पूरण एह॥

स्त्री संभोग के त्याग तथा परम ब्रह्मआत्मा में ही रमण करने को उत्ताम ब्रह्मचर्य कहते हैं। ब्रह्मचर्य के विना समस्त व्रत तप असार है, ब्रह्मचर्य बिना समस्त काय क्लेश निष्फल है। ब्रह्मचर्य व्रत को मन, वचन काय, द्वारा प्रेम पूर्वक पालन करने से जीव परम पद को प्राप्त हो जाता है, यदि शील की रक्षा चाहते हो, उज्वल यश तथा कीर्ति चाहते हो, धर्म को निर्दोष पालन करना चाहते हो, तो ब्रह्मचर्य का पूर्णतया पालन करो, जिस प्रकार अपना आत्मा काम के राग से मलीन न होवे, उस प्रकार यत्न करो और इन्द्रिय के सुख से विरक्त होकर अन्तरंग परमात्म स्वरूप आत्मा की उज्वलता तथा निर्मलता को ही अवलोकन करो। इस प्रकार दश लक्षण धर्म का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। दश लक्षण धर्म कोई पर वस्तु नहीं है, यह आत्मा का निज स्वभाव है। क्रोधादिक कर्म जनित उपाधियों के दूर होने पर स्वमेव ही यह दश-लक्षण रूप आत्मा का निज स्वभाव प्रगट हो जाता है। क्रोध के अभाव से क्षमा, मान के अभाव से मार्दव, माया के अभाव से आर्जव, लोभ के अभाव से शौच, असत्य के अभाव से सत्य धर्म, कषायों के अभाव से संयमगुण, इच्छा के अभाव से तप गुण प्रगट होते हैं। पर में ममता रूप परिणामों के अभाव से त्याग धर्म होता है, पर द्रव्यों से भिन्न अपने आतमा का अनुभव करने से आकिंचन्य धर्म प्रगट होता है। तीन भेद छह कषाय के अभाव से तथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्म स्वरूप में प्रवृत्ति करने से ब्रह्मचर्य धर्म प्रगट होता है। यह दश प्रकार का धर्म आत्मा का स्वभाव है। यह किसी जगह से मोल देकर लिया नहीं जा सकता, किसी जगह पहाड़ में, वन में, तीर्थ में, मन्दिर में, रखा नहीं जो वैसे ही उठा कर लाया जा सके, यह तो आत्मा का निज स्वभाव है समस्त क्लेश दुःख रहित स्वाधीनता आत्मा का ही सत्य परिणमन है। इसका लाभ सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् ज्ञान से ही होता है। यह दश लक्षण धर्म मोक्ष मार्ग का मूल है। मुनिराज तो इस धर्म का पूर्णतया पालन करते हैं श्रावकों को भी इनका पालन अपनी योग्यतानुसार यथाशक्ति अवश्य ही करना चाहिये।

अध्रु वमशरणमेकत्वमन्यत्वशौचमास्त्रवो जन्म ।
लोकवृशबोधिसंवरनिर्ज्जराः सततमनुप्रे क्ष्याः ॥२०५॥

द्वादशानुप्रेक्षा बारह भावना "अनित्याशरण संसारै कत्वान्यत्वाशुच्यास्त्रवसंवर निर्जरा लोक बोधि दुर्लभधर्म स्वाख्यातत्वनुचिंतनमनुप्रेक्षाः ।" (तत्वा० सू० अध्या० ६ सू० ७)

अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व अशुचि आस्त्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि दुर्लभ, धर्म इन बारह भावनाओं का चिंतवन बार बार करना योग्य है। यह भावनायें वैराग्य उत्पन्न करने के लिये माता के समान हैं। जैसे हवा के लगने से अग्नि प्रकाशित होती है, वैसे ही बारह भावनाओं का चिंतवन करने से समता रूपी सुख प्रकाशन होता है। छह ढाला में इनका स्वरूप भली प्रकार वर्णन किया गया है।

जोबन ग्रह गो धन नारी। हय गय जन आज्ञा कारी ॥
इन्द्रीय भोग छिन थाई। सुर धनु चपला चपलाई ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संसार, शरीर भोग, इन्द्रियों के विषय, धन यौवन आदि सब असार हैं, थिर रहने वाले नहीं हैं। जैसे इन्द्र धनुष देखते २ नष्ट हो जाता है बिजली झट से अपना चमत्कार दिखा नष्ट हो जाती है, वैसे ही इन्द्रियों के भोग तथा धन यौवन आदि क्षण भंगुर हैं। आत्मा ही नित्य है, अखंड है, ध्रुव है। ऐसा विचार बार बार करना, यह अनित्य अनुप्रेक्षा है।

सुर असुर खगाधिप जेते। मृग ज्यों हरि काल दलेते ॥
मणि मन्त्र तंत्र बहु होई। मरते न बचावे कोई ॥

जैसे सिंह हरिण को आ दबोचता है, उसी तरह काल, देव, असुर, चक्रवर्ती आदि सबको आदबोचता है, और नष्ट कर डालता है, मणि यन्त्र तन्त्र आदि कितने ही उपाय क्यों न किये जावें, आयु कर्म के पूर्ण हो जाने पर कोई भी जीव को मरण से नहीं बचा सकता। जीव को संसार में किसी की भी शरण नहीं है। व्यवहार नयसे तो चार शरण हैं, अरहन्त परमेष्ठी की शरण, सिद्ध परमेष्ठी की शरण, साधु परमेष्ठी की शरण और जिन धर्म की शरण। निश्चय नय से केवल अपनी आत्मा की ही शरण है, इस प्रकार निरन्तर चिन्तवन करने का नाम अशरण भावना है।

शुभ, अशुभ कर्म फल जेते। भोगे जिय एक हि तेते ॥
सुत दारा होंय न सीरी। सब स्वारथ के हैं भीरी ॥

अपने शुभ अशुभ कर्मों के फलों को यह जीव आप अकेला ही भोगता है। पुत्र स्त्री आदि कोई भी इसके दुःख सुख के साथी नहीं होते। ये सब अपने स्वार्थ के ही सगे होते हैं। आत्मा सदा ही अकेला है, जन्म मरण से अकेला होता है, अकेला ही अनेक अवस्थाओं को धारण करता है। इस संसार में इस जीव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का धर्म सिवाय और कोई भी हितु नहीं हैं। निरन्तर इस प्रकार चिन्तवन करना एकत्व भावना है।

जल पय ज्यों जिय तन मेला। पै भिन्न भिन्न नहीं भेला॥
तो प्रगट जुदे धन धामा। क्यों ह्वै मिल इक सुतरामा॥

जल और दूध की तरह शरीर और जीव का मेल अनादि काल से हो रहा है, परन्तु दोनों जुदा २ हैं, एक नहीं हैं, जब अनादि काल से मिले हुवे होकर भी यह एक नहीं हैं, तो धन धान्य, मकान, पुत्र, स्त्री, आदि जो सर्वथा ही अपने से जुदा हैं अपने कैसे होंगे। इस प्रकार शरीर कुटुम्बादिक से अपने स्वरूप को सर्वथा भिन्न चिंतवन करने का नाम अन्यत्व भावना है।

पल रुधिर राध मल थैली। कीकसब सादितैं मैली॥
नव द्वार बहैं घिन कारी। अस देह करे किमयारी॥

यह शरीर मांस, खून, पीप, और मल की थैली है। हड्डी, चरबी आदि अपवित्र वस्तुओं के कारण मैली है। जिस शरीर के नौ रास्तों से सदा घृणा उत्पन्न करने वाला मैल बहा करता है, उस मैले शरीर से क्या यारीं करनी। यह शरीर महा अशुचि है, आत्मा ज्ञानमई महा पवित्र है, आत्मा का शरीर से क्या सम्बन्ध ? केवल विचार मात्र से ही भावना नहीं होती। देह को अशुचि विचार करने से, यदि परिणामों में वैराग्य भाव प्रकट होता है तो भावना सत्यार्थ कही जाती है, अन्यथा नहीं। ऐसा चिन्तवन करने का नाम अशुचि भावना है।

जो योगन की चपलाई। तातें हो आस्रव भाई॥
आस्रव दुःख कार घनेरे। बुद्धिवन्त तिन्हें निरवेरे॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हे भाई मन वचन काय की चञ्चलताई से कर्मों का आना होता है। यह कर्मों का आना बड़ा ही दुःखदायी है, बुद्धिवान पुरुष सदैव ही कर्म आस्रव को दूर करने का यत्न किया करते हैं। पांच मिथ्यात्व, बारह अव्रत, २५ कषाय और १५ योग इस प्रकार ५७ द्वारों से जीव के शुभाशुभ कर्मों का आना होता है, इसी का नाम आस्रव है। यह आस्रव दो प्रकार का होता है, शुभास्रव और अशुभास्रव। शुभायोगजन्य कर्मों के आस्रव को अशुभास्रव कहते हैं। आस्रव से बन्ध होता है, जो संसार का मूलकारण है इसलिए मोक्षाभिलाषी पुरुषों को उचित है कि वह आस्रव और बन्ध के कारणों से विमुख रहें। इस प्रकार आस्रव के स्वरूप का चिंतवन करना आस्रव भावना है। ५७ आस्रव द्वार का विवरण इस प्रकार है—

पंच प्रकार का मिथ्यात्व। एकान्त मिथ्यात्व—वस्तु में अनेक स्वभाव होते हुए भी एक ही को ग्रहण करना। विपरीत मिथ्यात्व-अधर्म को धर्म जानना, उल्टे श्रद्धान को विपरीत मिथ्यात्व कहते हैं। विनय मिथ्यात्व—समस्त प्रकार के देव, कुदेव, सुगुरु कुगुरु, धर्म अधर्म आदि सबको एकसा मानना तथा सबकी ही विनय भक्ति करना। संशय मिथ्यात्व——जिनेन्द्र भगवान के वचनों में सन्देह करना। निर्णय न करना, अज्ञान मिथ्यात्व-हिताहित की परीक्षा रहित देखा देखी श्रद्धान करना। बारह अव्रत-पांचइन्द्रिय और छठे मन का असंयम और छह काय के जीवों की अदया। २५ कषाय-अनन्तानुबन्धी क्रोध,मान, माया, लोभ; प्रत्याख्यानावरणी क्रोध; मान, माया, लोभ; संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ; इस प्रकार के १६ कषाय और हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुष वेद,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नपुंसक वेद, ये नौ, नौकषाय कुल मिलकर २५ कषाय होते हैं॥ १५ योग—४ मनोयोग, सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोग, उभय-मनोयोग, अनुभय मनोयोग, ४ वचनयोग, सत्य वचनयोग, असत्य बचनयोग, उभय बचनयोग, अनुभय बचनयोग; ७—काययोग-औदारिक काययोग, औदारिक मिश्र काययोग, वैक्रियक काययोग, वैक्रियक-मिश्र काययोग, आहारक काययोग, आहारक मिश्र काययोग, कार्माण काययोग। इस प्रकार कुल मिलकर ५७ आस्रव के कारण होते हैं।

जिन पुण्य पाप नहीं कीना, आतम अनुभव चित दीना।
तिन ही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके॥

जिन जीवों ने अपने भावों को पुण्य और पापरूप न होने देकर अपने आत्म अनुभव में ही अपने मन को लगाया, उन्होंने ही आते हुए कर्मों को रोका, और संवर की प्राप्ति कर सुख को प्राप्त किया। कर्मों के आस्रव को रोकने का नाम संवर है। संवर के कारण पंच महाव्रत, पंच समिति, तीन गुप्ति, दश लक्षण धर्म, बारह भावना और बाईस परीषहों के स्वरूप का बार बार चिंतवन करना, संवर अनुप्रेक्षा है।

निज काल पाय विधि झरना तासों निज काज न सरना।
तप कर जो कर्म खिपावे, सोई शिव सुख दर्शावे॥

अपनी स्थिति पूर्ण होने पर जो कर्म झड़ जाते हैं, उससे अपना कार्य नहीं बनता, तपश्चरण करके जो कर्मों को उनकी स्थिति पूर्ण होने से पहले ही नष्ट कर डालता है, वह ही अपने में मोक्ष सुख को दर्शाता है। पूर्व संचित कर्मों के उदय में आकर खिर जाने को निर्जरा कहते हैं, यह निर्जरा दो प्रकार की होती है, एक सविपाक निर्जरा और दूसरी अविपाक निर्जरा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्म की स्थिति पूर्ण होने पर, फल देकर स्वयं कर्म झड़ जाने को सविपाक निर्जरा कहते हैं। यह निर्जरा सब ही संसारी जीवों के हुआ करती है। कर्मों की स्थिति पूर्ण होने से पहले ही, उनको तपश्चरण आदि द्वारा, अनुदय अवस्थामें झाड़ देनेको अविपाक निर्जरा कहते हैं। यह निर्जरा सम्यक् दृष्टि व यतीश्वरों के हुआ करती है। इस प्रकार निर्जरा के स्वरूप तथा उसके उपायों का बार बार चिंतवन करना निर्जरा भावना है।

चहुं गति दुख जीव भरे हैं, परिवर्तन पंच धरे हैं।
सब विधि संसार असारा, तामें सुख नाहिं लगारा॥

जीव अनादि काल से कर्मोदय के अनुसार चारों गतियों में भ्रमण करता हुआ अनेक दुखों को सहन करता है, और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप पञ्च परिवर्तन किया करता है। संसार सब प्रकार से असार है इसमें जरासा भी सुख कहीं नहीं है नरक गति में नानाप्रकार के छेदन, भेदन, ताड़न, तापन आदिक अनेक पीड़ायें उठानी पड़ती हैं। तिर्यंच गति में भूख, प्यास, ज्यादह बोझ उठाना, इत्यादिक कष्ट सहन करने पड़ते हैं। मनुष्य गति में इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग द्वारा अनेक दुख भुगतने पड़ते हैं। अनेक मानसिक चिंतायें नित प्रति सताया करती हैं। देवगति में भी देवाङ्गनाओं के वियोग के समय देव को बड़ा खेद होता है, अन्य देवों को मरते देख अपने मरने का भय सताता है। अपने मरण से पहले माला मुरझाई देख महा-व्याकुलता को प्राप्त होता है, तथा अन्य देवों की अधिक सम्पत्ति देखकर ईर्षा पैदा होती है, इत्यादिक अनेक कष्टों का अनुभव करना पड़ता है। इस प्रकार चारों ही गति दुःख रूप हैं, संसार में कहीं भी सुख नहीं है। पञ्चमगति मोक्ष में ही अतीन्द्रिय,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निरावाध, निराकुलता रूप सुख की प्राप्ति इस जीव को होती है। संसार का ऐसा स्वरूप विचार, चारों गतियों से उदासीन हो, मोक्ष का उपाय करना ही जवी का परम कर्तव्य है। निरन्तर ऐसा चिंतवन करने का नाम संसार भावना है।

किनहू न करो न धरो को, षट् द्रव्य मयी न हरै को।
सो लोक मांहि विन समता, दु;ख सहै जीव नित भ्रमता॥

इस लोक को न किसी ने वनाथा है और न कोई इसे धारण किये हुए है। यह लोक जीव पुद्गल,धर्म, अधर्म, आकाश और काल ऐसे छः द्रव्यों से भरा हुआ है कोई भी इसका नाश नहीं कर सकता। इस लोक की आकृति पुरुषाकार है, लोकाकाश के शिखर भाग में सिद्ध शिला है जहां अनन्त सिद्ध निवास करते हैं। इत्यादिक लोक की रचना तथा स्वरूप के चिंतवन करने को लोक भावना कहते हैं।

अन्तिम ग्रीवक लों की हद, पायो अनन्त विरियां पद।
पर सम्यक् ज्ञान न लाध्यो, दुर्लभ निज में मुनि साधो॥

इस जीव ने नौग्रीवक तक जाकर अनन्त बार वहां का अहमिन्द्र पद पाया, परन्तु सम्यक ज्ञान की प्राप्ति न हुई। ऐसे कठिन सम्यक्ज्ञान को मुनियों ने निज आत्मा में ही साधन किया है, यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति वड़ी दुर्लभ है जैसा कि भूधरदास जी ने भी कहा है।

"धन कन कञ्चन राज सुख, सबैं सुलभ कर जान।
दुर्लभ है संसार में, एक यथारथ ज्ञान"॥

इस प्रकार यथार्थ ज्ञान की दुर्लभता का बार बार चिंतवन करना वोधि दुर्लभ भावना है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो भाव मोह तैं न्यारे, दृग ज्ञान व्रतादिक सारे।
सो धर्म जबै जिये धारे, तब ही सुख अचल निहारे ॥

सम्यक् दर्शन, ज्ञान चारित्र तप आदिक जो भाव हैं, वे सब मोह भाव से जुदे हैं, और यही भाव धर्म रूप हैं। इस रत्नत्रय धर्म को जब जीव धारण करता है, तब स्थिर सुख अर्थात् मोक्षके सुख को प्राप्त कर लेता है। वस्तु का निज स्वभाव ही उसका धर्म है। जीव का स्वभाव चैतन्य मई है, इस निर्मल चैतन्यता को प्राप्त करना ही जीव का परम धर्म है धर्म रत्नत्रय रूप है,धर्म दश लक्षणरूप है,अथवा अहिंसा रूप है। इस प्रकार धर्म के स्वरूप को बार बार चिंतवन करने को धर्म भावना कहते हैं। मुनिराज इनका विचार नित प्रति किया करते हैं, श्रावकों को चाहिये कि इनके चिंतवन द्वारा वे भी अपने मनको कोमल तथा निर्मल बनावें। इन भावनाओं के विचार से धर्म में प्रीति बढ़ती है।

क्षुत्तृष्णा हिममुष्णं नग्नत्वं याचनारतिरलाभः।
दंशोमशकादीनामाक्रोशो दुखव्याधिमङ्गमलम् ॥२०६॥
स्पर्शश्च तृणादीनामज्ञानमदर्शनं तथा प्रज्ञा।
सत्कारपुरस्कारः शय्या चर्य्या बधो निषद्या स्त्री ॥२०७॥
द्वाविंशतिरप्येते परिषोढव्याः परीषहाः सततम्।
संक्लेशमुक्तमनसा संक्लेशनिमित्तभीतेन ॥ २०८॥

बाईस परीषह जय। "क्षुत्पिपासा शीतोष्ण दंश मशक नाग्न्यारति स्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाऽज्ञानाऽदर्शनानि।" (तत्वा० सू० अ०-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

६ सू० ६) १. क्षुधा, २. तृषा, ३. शीत, ४. उष्ण, ५. दंश मशक ६. नाग्न्य ७. अरति ८. स्त्री, ६. चर्या १०. निषद्या, ११. शय्या, १२. आक्रोश, १३. वध; १४. याचना १५. अलाभ; १६. रोग १७. तृण स्पर्श १८. मल १६. सत्कार पुरस्कार, २०. प्रज्ञा, २१. अज्ञान २२. अदर्शन, यह बाईस परीषह हैं। इन सब परीषहों से शरीर सम्बन्धी वा मन सम्बन्धी जो अत्यन्त पीड़ा होती है उसे समताभाव पूर्वक सहन कर लेने से संवर होता है। और पूर्व बद्ध कर्मों की निजरा होती है। मुनिराज तो इन परीषहों को पूर्णतया जय करते हैं। गृहस्थों के लिये भी इनका जय करना परम कर्तव्य है। आगे इनका भिन्न भिन्न स्वरूप कहते हैं।

अनशन ऊनोदर तप पोषत, पाख मास दिन बीत गये हैं।
जो नहीं बने योग्य भिक्षा विधि, सूख अंग सब शिथिल भये हैं।
तब बहु दुस्सह भूख की वेदन, सहत साधु नहीं नेक नये हैं।
तिन के चरण कमल प्रतिदिन दिन, हाथ जोड़ हम शीश नये हैं॥

मुनिराज पखवाड़ों, महीनों तक अनशन ऊनोदर आदिक कठिन से कठिन तपश्चरण किया करते हैं। यदि, योग्य विधि पूर्वक, निर्दोष, अन्तराय रहित आहार उनको मिलता है तो ले लेते हैं अन्यथा फिर उपवास धारण करलेते हैं। इस प्रकार करते करते यह दशा हो जाती है कि शरीर के सब ही अंगोपाँग शिथिल हो जाते हैं। भूख की तीव्र दुःसह वेदना होने पर भी मुनिराज भूख की बाधा को समता भाव पूर्वक सहन करते हैं। ऐसी वेदना के समय वे विचार करते हैं कि हे जीव! पाप के कारण तू नरक में गया, वहाँ क्षुधा तो अति तीव्र थी, परन्तु खाने को एक कण मात्र भी नहीं मिलता था। पशु गति में, तथा मनुष्य गति में पराधीन होकर बन्दीखाने में पड़े पड़े अनेक बार क्षुधा की वेदना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को सहन किया है, अब तो मुनि पद को धारण कर तू स्वाधीन हो गया है। इस क्षुधा की अल्प वेदना से क्यों कायर होता है, अन्य मुनीश्वर तो पक्षोपवास मासोपवास कर रहे हैं, उन्हें क्षुधा की बाधा नहीं होती, तुझे ही क्यों हो? अब तो तू भोजन की लालसा को छोड़ भूख की बाधा को मेट, ज्ञानामृत का पान कर, इस प्रकार क्षुधाकी परीषह को जीतने वाले मुनिराज को बारम्बार नमस्कार हो।

पराधीन मुनिवर की भिक्षा, पर घर लेंय कहें कछु नाहीं।
प्रकृति विरुद्ध पारणा भुंजत, बढ़त प्यास की त्रास तहां ही।
ग्रीषम काल पित्त अति कोपे, लोचन दोय फिरैं जब जांहीं।
नीर न चहैं सहैं तिस ते मुनि, जयवन्ते वर्तो जग मांही।

मुनिराज का आहार पराधीन होता है, वे दूसरे के घर आहार लेते हैं, अपने मुख से आहार के सम्बन्ध में कभी कुछ नहीं कहते, उद्दिष्ट आहार के सर्वथा त्यागी होते हैं। ऐसी दशा में गर्मी की ऋतु में यदि कोई श्रावक उनको प्रकृति विरुद्ध आहार दे देता है, तो प्यास बड़े जोर की लगती है, पित्त की अधिकता से व्याकुलता बढ़ जाती है यहांतक कि गर्मी तथा प्यास के कारण दोनों आंखें फिर जाती हैं। ऐसी हालत हो जाने पर भी वह जल की याचना किसी से नहीं करते हैं और न ही जल को ग्रहण करते हैं। समताभाव पूर्वक प्यास की बाधा को सहन करते हैं। ऐसी अवस्था में विचारते हैं कि हे जीव! तूने संसार में बहुत भ्रमण किया है, कितना ही जल अनेक भव भवान्तरों में तू पी चुका है, परन्तु अब तक तेरी तृषा की वेदना नहीं मिटी। नरक में ऐसी प्यास लगी कि समुद्र जल से भी तृप्त न हो सके, परन्तु वहां एक बून्द मात्र जल भी न मिला। तिर्यञ्च गति में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनेक बार तृषा के कारण अनेक कष्ट सहन किये। मनुष्य गति में परके आधीन होकर तृषा की वेदना को अनेक वार सहन किया। अब जो तृषा की वेदना है, यह तो उस सबवेदना की अपेक्षा कुछ भी नहीं हैं। इस वेदना से तू कायर क्यों होता है? अब तो तू स्वधीन है, तूने परम उत्कृष्ट साधु पद को धारण किया है, तृषा परीषह को सहन कर, समभाव रख, संयम से न डिग, दुर्लभ ज्ञानामृत का पान कर। जो मुनिराज इस प्रकार तृषा परीषह को जीतते हैं वे जग में जयवन्ते हों।

शीत काल सब ही जन कंपैं, खड़े जहाँ वन वृक्ष दहे हैं।
झंझा वायु वहे वर्षा ऋतु, वर्षत बादल झूम रहे हैं॥
तहां धीर तटनी तट चौपट, ताल पाल पर कर्म दहे हैं।
सहैं संभाल शीत की वाधा, ते मुनि तारन तरन कहे हैं॥

शरद ऋतु में सब ही जीव जाड़े के कारण कांपने लग जाते हैं, हरे वृक्ष भी पाले के मारे सूख जाते हैं, वर्षा हो जाने पर जोर की ठण्डी हवा चलती है, बादल घूम घूम कर आकाश में छा जाते हैं। ऐसे में वे तपोधन मुनिराज धीर वीर होकर किसी नदी के किनारे, अथवा कहीं किसी ताल की पाल पर जाड़े की हवाकी जरा भी परवा न करते हुये, ध्यान में निश्चल हो कर्मोंकी निर्जरा किया करते हैं। वे विचारते हैं, हे जीव! तूने नरक में महाशीत की वेदना को सहन किया है, उसके सामने यह वेदना कुछ भी नहीं है, अब तो तूने मुनि पद को धारण किया है, शीत परीषह को आदर भाव पूर्वक सहन कर। जो मुनिराज इस प्रकार शीत परीषह को मन वचन काय की शुद्धि पूर्वक सहन करते हैं, सच्चे तरण तारण कहलाते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भूख प्यास पीढ़ैं उर अन्तर, प्रज्वलै आंत देह सब दागे।
अग्नि स्वरूप धूप ग्रीषम की ताती बाल झालसी लागे ॥
तपै पहार ताप तन उपजत, कोपै पित्त देह ज्वर जागे।
इत्यादिक ग्रीषम की बाधा, सहत साधु धीरज नहिं त्यागे ॥

ग्रीष्म काल में अंतरंग में भूख प्यास की पीड़ा सताती है, अन्तड़ियों में जलन होने लगती है, शरीर गर्मी के कारण व्याकुल हो जाता है; ग्रीष्म काल की धूप अग्नि सारिखी होती है, गर्म लूएं भट्टी की झलों के समान लगती हैं, पित्त का जोर हो जाता है। ज्वर आदि रोग सताने लगते हैं। ऐसे प्रचण्ड ग्रीष्म काल में मुनिराज पर्वतों के उच्च शिखरों पर ध्यान लगाते हैं, नीचे से पहाड़ तपता है, ऊपर से सूर्य का तेज शरीर को जलाता है। इस प्रकार ग्रीष्म ऋतु की अनेक बाधाओं को मुनिराज समता भाव पूर्वक सहन करते हैं।

अन्तर विषय वासना वर्ते, बाहर लोक लाज भय भारी।
तातें परम दिगम्बर मुद्रा, धर नहिं सकें दीन संसारी ॥
ऐसी दुद्धर नग्न परीषह, जीतें साधु शील व्रतधारी।
निर्विकार बालकवत् निर्भय, तिनके पायन धोक हमारी॥

नग्न मुद्रा के धारी, महा अविकारी मुनिराज भयंकर बन में एकाकी रहा करते हैं। साधारण संसारी लोग तो दिगम्बर मुद्रा को धारण ही नहीं कर सकते, क्योंकि उनके अंतरंग में तो विषय वासना होती है, और बाहर से उनको लोक लाज का बड़ा भारी भय होता है। परम शीलके धारी दिगम्बर साधु ही नग्न परीषह सहन करने के समर्थ होते हैं। काम कषाय का सर्वथा अभाव होने के कारण वे; बालकवत्, विकार भाव से शून्य होते हैं, निर्मोही तथा निर्भय होने के कारण रेशम, ऊन, सूत, सन, वृक्षों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के बल्कल आदि के किसी प्रकार के वस्त्र की भी उनको आवश्यकता नहीं होती। दशों दिशायें ही उनके वस्त्र का काम देती हैं। ऐसी दुद्धर नग्न परीषह के जीतने वाले साधु ही वन्दना के योग्य हैं।

डांस मांस माखी तन काटें, पीड़ें वन पंछी वहुतेरे।
डसें व्याल विषयारे बीछू, लगें खजूरे आन घनेरे॥
सिंह स्याल सुंडाल सतावें, रींछ रोझ दुःख देंय बडेरे।
ऐसे कष्ट सहें सम भावन, ते मुनिराज हरो अघ मेरे॥

संसारी जीव डांस मच्छर आदि के ज़रा काट जाने पर भी खेद खिन्न हो जाते हैं, योगीश्वर नग्न होते हैं, शरीर को नग्न पाकर वन में डांस, मच्छर, चिंटवीं, मकौड़े, कानखजूरे, सर्प आदि विषयाले जीव उनसे लिपट जाते हैं, और उनके शरीर को बाधा पहुंचाते हैं। ऐसा होने पर भी वे धीर बीर साधु मनमें ज़रा भी खेद नहीं करते वल्कि सारी व्यथा को समता भाव पूर्वक सहन कर अपनी ध्यान अवस्था में ही निश्चल रहते हैं। ऐसे मुनिराज मेरो पापरूपी कालिमा को दूर करें।

देश काल को कारण लहिके, होत अचैन अनेक प्रकारे।
तव तहां खिन्न होंय जगवासी, कलमलाय थिरता पद छांड़ें॥
ऐसी अरति परीषह उपजत, तहां धीर धीरज उर धारें।
ऐसे साधुन का उर अन्तर, बसें निरन्तर नाम हमारे॥

देश तथा काल सम्बन्धी कारणों के मिलने पर संसारी जीव अनेक प्रकार के खेद खिन्न तथा बेचैन हो जाया करते हैं, परन्तु परम दिगम्बर साधु ऐसे कारणों के उपस्थित हो जाने पर ज़रा भी चित्त में डांवाडोल नहीं होते। अपने चित्त में निश्चलता को ही धारण करते हैं। किसी प्रकार भी अपने संयम में किसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकार की अरुचि नहीं होने देते। संसारी जीव इष्ट पदार्थ के संयोग होने पर हर्ष करते हैं और उस पदार्थ से राग करते हैं, अनिष्ट पदार्थों के संयोग होने पर खेद खिन्न तथा व्याकुल होते हैं, और उन पदार्थों से द्वेष करते हैं। मुनिराज कदापि किसी भी वस्तु से राग द्वेष नहीं करते, सदैव समता भाव पूर्वक ही व्यवहार करते हैं, उनके लिये शत्रु, मित्र, महल और मसान, सोना और कांच, निन्दा और स्तुति, पूजन करना तलवार से मारना, ये सब समान हैं। ऐसी अरति परीषह को जीतने वाले साधु का नाम ही नित प्रति स्मरण करने योग्य है।

जे प्रधान केहरि को पकड़ें, पन्नग पकड़ पांव से चंपत।
जिनकी तनक देख भौं बांकी, कोटक शूर दीनता जंपत॥
ऐसे पुरुष पहाड़ उड़ावन, प्रलय पवन तिय-वेद पयंपत।
धन्य २ ते साधु साहसी, मन सुमेरु जिनके नहिं कंपत॥

महान् पुरुष भी जो सिंह को वश में कर लेते हैं, सर्प को पांव के नीचे कुचल सकते हैं, जो पहाड़ उड़ाने के लिये भी समर्थ हैं, और बड़े ही वीर हैं, स्त्रियों के हाव भावादिकों से अति विह्वल होकर मोहित हो जाते हैं और उन्हें अपनी कुछ भी सुधि नहीं रहती। मुनिराज महाशील व्रत के पालनहारे स्त्री के संग को ऐसा त्याग देते हैं, जैसे कोई सज्जन पुरुष दुर्जन की संगति को छोड़ देता है। स्त्री के शरीर को महामलीन, दुर्गति का कारण जान उसमें आसक्त नहीं होते। समस्त विभाव परणति का त्याग कर, अपनी ही ज्ञानानन्द रूप स्वाभाविक परणति में लीन होते हैं।

चार हाथ परमाण निरख पथ, चलत दृष्टि इत उत नहिं ताने॥
कोमल पांव कठिन धरती पर, धरत धीर बाधा नहीं मानें॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नाग तुरङ्ग यान चढ़ चलते, ते सवाद उर याद न आने ।
यों मुनिराज भरैं चर्या दुःख, तब दृढ़ कर्म कुलाचल भानें ॥

संसारी जीव सफ़र में जाते हुए ऋतु काल का विचार करते हैं अपने शारीरिक आराम की अनेक सामग्री साथ में ले घोड़ा, हाथी, रथ, रेल, मोटर आदि में चढ़कर चलते हैं, फिर भी यदि कुछ जरा सी तकलीफ़ होती है तो खेद खिन्न हो जाते हैं। यतीश्वर ईर्यापथ शोधते चलते हैं, ग्रीष्मऋतु में दशों दिशायें तपने लग जाती हैं, लूएं सताती हैं, मार्ग में कंकर कांटे आदि पांवों में चुभते हैं, परन्तु वे इन सब कारणों के मिलने पर भी खेद खिन्न नहीं होते। पहले भोगे हुवे सवारी के सुखों को याद तक नहीं करते। इस प्रकार समता भाव पूर्वक चर्या परिषह को सहन करने वाले मुनिराज ही कर्म रूपी पहाड़ को भेदते हैं।

गुफ़ा मसान शैल तरु कोटर, निवसें जहां शुद्ध भू हेरें।
परिमित काल रहें निश्चल तन, बार बार आसन नहीं फेरें ॥
मानुष देव अचेतन पशु कृत, बैठे विपत्ति आन जब घेरे।
ठौर न तजें भजें थिरता पद, ते गुरु बसो सदा उर मेरे ॥

सब ही संसारी जीव सुन्दर स्थानों में रह कर खुश होते हैं। मुनिराज दीक्षा ग्रहण करने से पहले मनोग्य, सुन्दर, विशाल महलोंमें रहा करते थे, अनेक प्रकार के भोय विलास करते थे। अब निज स्वरूप को पहचान निश्चय से अपनी आत्मा को ही अपना स्थान जाना है। परिग्रह का सर्वथा त्याग किया है और निर्जन वन में जहां सिंहादिक अनेक वनचर जीव रहते हैं। पहाड़ों की अन्धेरी गुफाओं में, अथवा श्मशान भूमि में रहना अङ्गीकार किया है। ऐसे विषम स्थानों में निवास करते हुवे, अथवा ध्यान के समय जबकि मुनिराज एकासन स्थित होते हैं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तो चेतन, अचेतन कृत अनेक उपसर्गों के उपस्थित होने पर भी महाधीर वीर साधु खेद नहीं मानते, स्थान को छोड़ भागते नहीं, अपने निज स्वरूप को विचार समता भाव पूर्वक उपसर्ग को सहन करते हैं। ऐसे साधु नित प्रति स्मरण करने योग्य हैं।

जे महान सोने के महलन, सुन्दर सेज सोय सुख जोवें।
ते अब अचल अङ्ग एकासन, कोमल कठिन भूमि पर सोवें॥
पाहन खंड कठोर कांकरी, गड़त कोर कायर नहीं होवें।
ऐसी शयन परीषह जीतत, ते मुनि कर्म कालिमा धोवें॥

जगत के सब ही जीव विषयाभिलाषी होने के कारण कोमल शय्या आदि पर ही सोना पसन्द करते हैं। परम योगीश्वर सोने चांदी के विशाल महलों को तथा सुन्दर और कोमल सेज को छोड़कर, बन खण्डहर आदि में शयनासन किया करते हैं। क्षीण शरीर में कठोर कंकरी आदि चुभती है, तो खेद खिन्न नहीं होते, वे विचारते हैं कि हे जीव! तूने नरकों की वेदना अनेक बार सहन की, नरक की भूमि के समान विषम भूमि कहीं भी नहीं है, यह क्या विषम भूमि है, जिससे तू खेद खिन्न होता है। तूने तो उत्तम जिन मुद्रा को धारण किया है, भव समुद्र से पार हो मोक्ष पद को प्राप्त करना चाहता है। मोह निद्रा को छोड़ योग (ध्यान) निद्रा में आरूढ़ हो। सदैव काल जाग्रत रह कर निज स्वरूप में मग्न हो। शय्या का खयाल तक भी दिल में न ला। पहले राज्य अवस्था में अनेक भोग विलास किये। मनोग्य महलों में सुन्दर सेजों पर जो मजे उड़ाये, उनको याद न कर, संसार के समस्त ही भोगों को रोग समान समज। इस प्रकार शय्यापरिषह को जीतने वाले मुनिराज ही कर्मरूपी कलङ्क को धोने के लिये समर्थ हुवा करते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जगत जीव यावन्त चराचर, सबके हितु सबके सुखदानी।
तिन्हेंदेख दुर्वचन कहें, शठ, पाखंडी ठग यह अभिमानी॥
मारो याहि पकड़ पापी को, तपसी भेष चोर है छानी।
ऐसे बचन की बिरियां, क्षमा ढाल ओढ़ें मुनिज्ञानी॥

मुनिराज जगत के समस्त ही जीवों के सच्चे हितैषी तथा सुख पहुंचाने वाले होते हैं, दुष्ट लोग उन्हें देख कर नाना प्रकार के खोटे बचन कहते हैं, उनकी निंदा करते हैं, गाली देते हैं' कोई कहते हैं कि इस पापी को मारो, यह पाखंडी है अभिमानी है, तपस्वी के भेष में चोर है। ऐसे निष्ठुर वचनों के सुनने पर भी वे उत्तम क्षमा के धरणहारे साधु क्रोध नहीं करते, चित्त को रंचमात्र भी कलुषित नहीं होने देते। परम क्षमारूपी ढाल से दुष्टजनों के बचन रूपी वाणों के प्रहार को रोकते हैं।

निरपराध निर्वैर महामुनि, तिन्हें दुष्ट लोग मिल मारें।
केई खेंच थंभ से बांधत, केई पावक में परजारें॥
तापर कोप न करहिं कदाचित, पूर्व कर्म विपाक विचारें।
समरथ होय सहें बध बन्धन, ते गुरु सदा सहाय हमारे॥

संसारी जीवों को यदि कोई बध वन्धन द्वारा कष्ट पहुँचाता है, तो वे उससे बड़ा द्वेष करते हैं, किसी न किसी प्रकार अपना बदला लेने का प्रयत्न करते हैं। उत्तम क्षमा के धारक महामुनि को यदि कोई दुष्ट पापी जीव मारते हैं, खेंच कर थंभ से बांध देते हैं या कोई और उपद्रव करते हैं, तो वे मुनिराज सामर्थवान होते हुवे भी उन पर कोई क्रोधादि नहीं करते, विचारते हैं कि यह सब कष्ट शरीर सम्बन्धी है, कोई पूर्वबद्ध अशुभ कर्म उदय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में आकर अपना फल दे रहा है। मेरा आत्मा अमूर्तिक है, शुद्ध स्वभाव ज्ञानानन्द स्वरूप है, उनको कोई बाधा नहीं पहुँच सकती। ऐसे ही साधु सदा हमारी सहाय करें।

घोर वीर तप करत तपोधन, भये क्षीण सूखी गल बाहीं।
अस्थि चाम अवशेष रह्योतन, नसाजाल झलके जिसमांहीं॥
औषधि अशन पान इत्यादिक, प्राण जांय पर याचत नाहीं।
दुद्धर अयाचीक व्रत धारें, करहिं न मलिन धरम परछाहीं॥

तपोधन मुनिराज घोर तपश्चरण किया करते हैं, जिसके कारण उनका शरीर क्षीण हो जाता है। यहां तक कि नसाजाल उस चमड़े में से चमकने लग जाता है। शरीर की ऐसी अवस्था हो जाने पर भी वह औषधि, आहार, जल आदि की याचना किसी से नहीं करते, चाहे उनके प्राण निकल जावें, पर वह अयाचीक व्रत का पालन करते हैं। वह विचरते हैं कि याचना से समस्त ही संसारी जीव दीन हो रहे हैं, इन्द्र चक्रवर्ती आदि भी अभिलाषाओं के वश होकर रङ्क हो रहे हैं। मुनि की वृत्ति अयाचीक है, जब वह जिनेन्द्र प्रभु से मोक्ष ही नहीं मांगते, तो और किसी से क्या मांगना। याचना न करना मुनि व्रत का मूल है, याचना जीव को संसार में नीच बनाती है, अयाचना व्रत का पालन करने से ही जीव उत्कृष्ट होता है।

एक बार भोजन की विरियां, मौन साध बस्ती में आवें।
जो नहीं बनेयोग भिक्षा विधि, ते महन्त मन खेद न लावें॥
ऐसे भ्रमत बहुत दिन बीते, तव तप विरद भावना भावें।
यों अलाभ की परम परीषह, सहें साधु सोही शिव पावें॥

मुनिराज अनेक उपवास करने के बाद, पारणे के दिन बस्ती में आते हैं। यदि योग्य विधि पूर्वक आहार नहीं मिलता है, तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रंचमात्र भी खेद खिन्न नहीं रोते हैं। लाभ अलाभ दोनों को समान गिनते हैं। इस प्रकार अलाभ परीषह के जीतने वाले साधु ही मोक्ष के पात्र होते हैं।

बात पित्त कफ शोणित चारों, ये जब घटे बढ़ें तन माहीं।
रोग संजोग सोग तन उपजत, जगत जीव कायर हो जांहीं॥
ऐसी व्याधि वेदना दारुण, सहें शूर उपचार न चाहीं।
आतम लीन देह सों विरकत, जैन यती निज नेम निबाहीं॥

शरीर रोगों का घर है, बात पित्त कफ आदि के घटने बढ़ने से अनेक रोग शरीर में हो जाते हैं। संसारी जीव इन रोगों के हो जाने पर बड़े खेद खिन्न हो जाते है नाना प्रकार के इलाज करते हैं और रोग जनित पीड़ा केसहन करने रू कायर हो जते हैं परन्तु जैन यति तीव्र से तीव्र रोग के उपस्थित हो जने पर भी खेद खिन्न नही होते, इलाज की इच्छा तक नही करते। शरीर से ममत्व त्याग अपनी आत्मा में ही लीन रहते हैं

सूखैं तृण और तीक्ष्ण कांटे, कठिन कांकरी पांय विदारें।
रज उड़ आय पड़े लोचन में, तीर फाँस तन पीर विथारें॥
तापर पर सहाय नहीं वांछत अपने करसों काढ न डारें।
यों तृण परस परिषह विजयी, तेगुरु भव २ शरण हमारें॥

जगत के जीव ज़रासी फांस लग जाने पर खेद खिन्न हो जाते हैं, योगन्द्र के शरीर में यदि त्रण, कंकरी, फांस आदि चुभ जाते हैं तो वे शूरवीर, साहसी; संयम रूपी धनके स्वामी रंचमात्र भी खेद चित्त में नपी करते, अपने हाथ से त्रण आदि को निकलते नहीं, और न किसी दूसरे से उसके निकलने के लिये प्रार्थना करते हैं। सर्वथा निर्व्याकुल हो निज स्वभाव में ही लीन रहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यावज्जीव जल न्हवन तजो जिन नग्न रूप बन थान खरे हैं।
चले पसेव धूप की विरियां, उड़त धूल सब अङ्ग भरे हैं।
मलिन देह को देख महामुनि, मलिन भाव उर नाहिं करे हैं।
यों मल जनित परिषह विजई, तिन्हें हाथ हम शीश धरे हैं॥

जगत के जीवों के शरीर में ज़रासा भी पसीना आकर रंचमात्र भी धूल लग जाती है, तो बेचैन हो जाते हैं, साबुन आदि से स्नान कर शरीर को आराम पहुँचाने के अनेक उपाय करते हैं। मुनिराज के यावज्जीव स्नानादि का सर्वथा त्याग होता है, ग्रीष्म काल में धूप की तेज़ी से पसीना आने से शरीर पर, धूल उड़ कर जम जाता है, शरीर मैला हो जाता है, रेत काटने लगती है। ऐसा होने पर भी मुनिराज अपने चित्त में ज़रा भी खेद नहीं करते। वे विचारते हैं कि हे जीव ! यह तेरा शरीर तो इतना मलीन है, कि यदि सारे समुद्र के जल से भी इसे शुद्ध किया जावे, तो भी यह पवित्र नहीं हो सकता। तू परम पवित्र, अमूर्तिक, शुद्ध चैतन्य स्वरूप है। धूल आदिक मूर्तिक पदार्थ तुझे कैसे स्पर्श कर सकते हैं। ऐसा विचार देह के नेह को त्यागो और निज स्वरूप में स्थिर रहो

जे महान विद्या निधि विजई, चिर तपसी गुण अतुल भरे हैं।
तिनकी विनय वचन सो अथवा, उठ प्रणाम जन नाहिं करे हैं॥
तौ मुनि तहां खेद नहिं मानें, उर मलीनता भाव हरे हैं।
ऐसे परम साधु के अहनिशि, हाथ जोड़ हम पाँव पड़े हैं॥

संसार में देव, मनुष्य, तिर्यंच आदिक सब ही जीव आदर किये जाने पर हर्षित होते हैं, सत्कार करने वाले को अपना मित्र समझते हैं। अनादर करने वाले को शत्रु समझते हैं। इस प्रकार आदर अनादर के कारण सदैव रागद्वेषरूप परिणति किया करते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। वीतरागी यतीश्वरों की इन्द्र, चक्रवर्ति आदिक सब स्तुति वन्दना किया करते हैं, यदि कोई अविवेकी रंक पुरुष उन की निन्दा करता है, तो उनके लिये दोनों समान हैं। वह ऐसा विचार किया करते हैं, कि हमारा आत्मा तो अमूर्तिक पदार्थ है, दृष्टिगोचर नहीं, वचन गोचर नहीं, उसका सत्कार कोई कैसे कर सकता है। शरीर पुद्गलरूप पर पदार्थ है, मलमूत्र का भाजन है, इस में कौनसी ऐसी बात है कि जिसके कारण इसकी स्तुति की जावे। इस लिये, स्तुति होने पर या निन्दा किये जाने पर हर्ष विषाद का मानना सर्वथा व्यर्थ है। जो साधु इस प्रकार सत्कार पुरस्कार की परीषह समताभाव पूर्वक सहन करते है, वे वन्दना के योग्य हैं।

तर्क छंद व्याकरण कला निधि, आगम अलंकार पढ़ जाने।
जाकी सुमति देख परवादी, विलखे होंय लाज उर आने॥
जैसे नाद सुनत केहरि को, बनगयन्द भागत भयमाने।
ऐसी महा बुद्धि के भाजन, पै मुनीश मद रंच न ठाने॥

संसारी जीव ज़रा सा लौकिक ज्ञान प्राप्त हो जाने पर ही मान करने लग जाते हैं कि हमारे जैसा और कोई विद्वान् तथा बुद्धिमान नहीं है। महामुनीश्वर तर्क छन्द, व्याकरण, कला, आगम, अलंकार आदि का संपूर्ण ज्ञान रखते हुवे भी मान नहीं करते।

सावधान वर्तें निशिवासर; संयम शूर परम वैरागी।
पालत गुप्ति गये दीरघ दिन, सकल संग ममता परित्यागी॥
अवधि ज्ञान अथवा मन-पर्यय, केवल किरण अजौं नहिं जागी।
यों विकलप नहिं करहिं कदाचित, अज्ञान विजई बड़ भागी॥

अनादि काल से संसारी जीव, अज्ञान के फ़न्दे में फँसे हुवे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं, जिन स्वरूप का ज्ञान नहीं होता और कदापि पढ़ने का अभ्यास भी करें और शब्दार्थ का ज्ञान न हो तो मन में अति-क्लेशित होकर पढ़ने से मुँह मोड़ लेते हैं पढ़ना पढ़ाना छोड़ देते हैं। मुनिराज को महा तप करते करते वर्षों बीत जाते हैं, तो भी परिपूर्ण श्रुत ज्ञान नहीं होता, या अवधि ज्ञान, मन पर्यय ज्ञान, या केवल ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, तो वह तपोधन मन में खेद नहीं करते। ऐसा विकल्प तक भी नहीं करते कि देखो घोर तपश्चरण करते २ बहुत समय बीत गया है, परन्तु हमारे ज्ञान में कोई भी वृद्धि नहीं हुई।

मैं चिर घोर घोर तप कीने, अजौंरिद्धि अतिशय नहिं जागे।
तपबल सिद्धि होंहि सब सुनिये, सो कुछ बात झूठ सी लागे॥
यों कदापि चित्त में नहिं चिंतत, समकित शुद्ध शांत रसपागे।
सोई साधु अदर्शन विजई, ताके दर्शन सों अघ भागे॥

संसारी जीव सब काम किसी न किसी प्रयोजन से किया करते हैं। इच्छित प्रयोजन के सिद्ध होने में यदि कमी रह जाती है,तो क्लेश मानते हैं। कोई मूढ़ पुरुष तो कार्य की सिद्धि न होने पर अपना अपघात तक कर बैठते हैं। ऋषिराज को महाव्रत धारण करते, और घोर तपश्चरण करते २ बहुत काल बीत जाता है, फिर भी यदि तप के फल रूप किसी ऋद्धि सिद्धि की प्राप्ति नहीं होती, तो ऐसा विकल्प कभी भी नहीं करते कि शास्त्र में तो सुनने में आता है कि तप के बल से सब सिद्धि प्राप्त हो जाती है, यह सब बातें झूठी ढकोसला सी ही मालूम पड़ती हैं। वह संयम के फल में जरासी भी शङ्का न रख अपने धर्म मार्ग में निश्चल रहते हैं, और अपने सम्यक्दर्शन को किसी प्रकार भी मलीन नहीं होने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देते। इन बाईस परीषहों में से जीव के एक साथ उन्नीस परीषह उदय में आ सकती हैं। क्योंकि शीत उष्ण में से एक काल में शीत या उष्ण एक ही परीषह होगी। और शय्या, चर्य्या, निषद्या इन तीनों में से भी एक काल में एक ही होगी। इस प्रकार एक समय में ३ परीषहों का अभाव होने के कारण १६ परीषह ही एक साथ उदय हो सकती हैं। प्रज्ञापरीषह और अज्ञान परीषह ज्ञानावरण कर्म के उदय होने पर होती हैं। दर्शनमोहनी के उदय से अदर्शन परीषह और अन्तराय के उदय से अलाभ परीषह होती है। चारित्र मोहनीय के उदय से नग्नता, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार पुरस्कार ये सात परीषह होती हैं। बाक़ी की क्षुधा, तृषा, शीत उष्ण, दंश मशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृण स्पर्श और मल ये ग्यारह परीषह वेदनीय कर्म के उदय होने पर होती हैं। इन बाइस परीषहों का सहन कर लेना परम संवर का कारण है, परीषहों के सहन करने से चित्त निश्चल होता है। चित्त की निश्चलता से ध्यान की सिद्धि होती है, ध्यान से कर्मों की निर्जरा हो मोक्ष पद की प्राप्ति होती है। इसलिये मोक्षाभिलाषी मुनि के लिये इन २२ परीषहों को सहन करना अति आवश्यक है।

—:)-(:—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

षोडश कारण भावना ।

"दर्शनविशुद्धिर्विनयसंपन्नता शीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग, संवेगौशक्तितस्त्यागतपसीसाधुसमाधिवैंयावृत्य करण-मर्हदाचार्य बहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्य कापरिहाणि मार्गप्रभावना प्रवचन वत्सलत्वमिति तीर्थंकरत्वस्य ॥" तत्वार्थसूत्र अध्याय ६ सूत्र २४ ॥

इस सूत्र में कही हुई १६ भावनायें तीर्थंकर नाम कर्म प्रकृति के आस्रव का कारण है। इन सोलह कारण भावनाओं में से कुछ कम न्यून हों, तो भी तीर्थंकर प्रकृति का आस्रव होता है। परन्तु उनमें दर्शन विशुद्धि का होना परम आवश्यक है। यह षोडश कारण भावना भी श्रावक के भावने योग्य है। इन के भावने का फल तीर्थंकर पद की प्राप्ति है। तीर्थंकर प्रकृति सर्वोत्कृष्ट पुण्य प्रकृति है इससे अधिक पुण्य प्रकृति त्रैलोक्य में नहीं है। इस तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का कारण यह षोड़श कारण भावनायें हैं, ये भावनायें समस्त पाप का क्षय करने वाली, परिणामों के मैल को काटने वाली, सुनते पढ़ते हुवे संसार वंधनों को छेदने वाली निरन्तर भावने योग्य हैं। इसी लिये भावों की विशुद्धता और अशुभ भावों के नाश के निमित्त उनका संक्षेपसा वर्णन यहां किया जाता है:—

१. दर्शन विशुद्धि:—भव्य जीवों को चाहिये कि तीन मूढ़ता अष्टमद, छह अनायतन, शंकादिक अष्टदोष इन सत्यार्थ श्रद्धान को मलीन करने वाले पच्चीस दोषों से रहित शुद्ध निर्मल सम्यक्त्व

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का बार २ चिन्तवन किया करें। यही दर्शन विशुद्धि नाम की भावना है। भगवान अर्हन्तदेव के कहे हुवे निर्ग्रन्थ रूप मोक्ष-मार्ग में श्रद्धा, प्रतीति वा विश्वास रखना सम्यक्दर्शन है। उसकी विशुद्धि के बिना केवल सम्यक्दर्शन होने मात्रसे तीर्थंकर नाम कर्म का बंध नहीं होता। पच्चीस दोषों से रहित होने के कारण अपने आत्मा का निजस्वरूप प्रत्यक्ष होना चाहिये ऐसे विशुद्ध सम्यक्दर्शन से तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है। इसलिये भव्यजीव जो चतुर्गति संसार परिभ्रमण से भयभीत होते हैं और जन्म जरा मरण से छूट अनन्त अविनाशी आत्मीक सुख के इच्छुक होते हैं, वह सदैव अन्य समस्त परद्रव्यों की अभिलाषा छोड़ सम्यक्दर्शन की ही उज्ज्वलता किया करते हैं। दर्शन विशुद्धता निर्वाण के अतुल सुख की कारण है, दुर्गति का निराकरण करने वाली है। दर्शन विशुद्धि के बिना अन्य पन्द्रह भावनायें कार्यकारी नहीं जैसे एक १ के अंक के बिना कितने ही बिन्दु क्यों न हों सब निष्फल और निःसार हैं। इस लिये भव्य जीवों को उचित है संसार के दुःख रूप अन्धकार को नाश करने के लिए सूर्य समान, परम शरण भूत दर्शन विशुद्धि नाम भावना को भावें।

चौ०—आठ दोष मद आठ मलीन।
छह अनायतन शठता तीन॥
यह पचीस मल वर्जित होय।
दर्शन शुद्धि कहावे सोय॥

२. विनय संपन्नताः—अपनी योग्यता के अनुसार मोक्ष के कारण रूप सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान सम्यक्चारित्र का आदर सत्कार करना तथा इन सम्यक्दर्शन आदि मोक्ष के कारणों को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पालन करने वाले गुरु आदिकों का अपनी योग्यता के अनुसार आदर सत्कार करना अथवा कषाय नोकषायों का त्याग कर देना विनय संपन्नता है। मान कषाय का त्याग करना विनय है, एक सद्गृहस्थ जिसके मान कषाय घट जाता है अपना समस्त व्यवहार विनय पूर्वक करता है। वह जानता है व्यवहार विनय परमार्थ विनय का कारण है, व्यवहार विनय यश और कीर्त्ति को बढ़ाती है, धर्म की प्रभावना करती है। मिथ्या दृष्टि का भी अपमान नहीं करना चाहिये, उसके प्रति भी मीठे वचन बोलना यथा योग्य आदर सत्कार करना योग्य है। महापापी, द्रोही, दुराचारी को भी कुवचन नहीं कहने चाहियें। दुष्ट जीवों की भी विराधना नहीं करना, उनकी रक्षा कर प्रवर्तना उनकी विनय है। अन्य धर्मियों के मन्दिर प्रतिमादिक से बैर नहीं करना, उनकी निंदा नहीं करना। यदि किसी की विनय नहीं करा तो उनका तिरस्कार निंदा करना तो कदाचित उचित नहीं। मनुष्य जन्म का मंडन विनय ही है। ऐसा जान भावना करनी चाहिये कि हमारे जीवन की एक घड़ी भी विनय बिना न जावे, विनय संपन्नता अंग हमारे हृदय में निरंतर वास करे और इसके प्रसाद से हमारा आत्मा भूल कर भी किसी प्रकार का अभिमान न करे।

"रत्न त्रय धारी मुनीराय। दर्शनज्ञान चरित समुदाय॥
इनकी विनय विषय परवीन। दुतिय भावना सोऽमलीन" ॥

३. शीलवृतेश्वनतीचारः—शील और व्रतों का अतिचार रहित निर्दोष पालन करना शीलव्रतेष्वनतीचार हैं। अहिंसा आदि व्रतों में तथा उन व्रतों का पालन वा रक्षा करने वाले शीलों में अथवा क्रोधादि कषायों के त्याग करने में मन वचन काय की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निर्दोष प्रवृत्ति होना शीलव्रतेष्वनतीचार है ।

ब्रह्मचर्य की रक्षा करना शील है। शील बिना तप करना, व्रत धरना, संयम पालना मृतक के अंग के समान है। शील तप व्रत संयम का जीवन है। शील पालन के बिना आत्मतत्व की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती, कामी का शील बिगड़ जाता है, उसके भावों की शुद्धि नहीं होती, विवेकहीन हो जाता है, पशु के समान हो जाता है। शील गुण समस्त गुणों में प्रधान है,शीलवानपुरुष का थोड़ा भी व्रत तप विशेष फलको प्राप्त होता है, और कुशील का बहुत भी व्रत तप निष्फल होता है। इसलिये आत्मा में शील (निज स्वभाव) की शुद्धता के निमित्त सदैव शील का ही पालन करो।

शील भार धारें समचेत। सहस अठारह अंग समेत॥
अतीचार नहीं लागे जहां। तृतिय भावना कहिये तहां॥

४. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगः—निरंतर ज्ञान की भावना करने में लगे रहना अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग हैं। ज्ञानोपयोग चैतन्य की परणति है, इसीलिये निरंतर क्षण २ में चैतन्य की भावना करना। विचारना कि अनादि काल से काम कषायादिक मेरी आत्मा के संग लग रहे हैं, मुझे भ्रम में डाल रखा है, अब जिनेन्द्र भगवान के परमागम केसेवन के प्रभाव से मेरा आत्मा रागद्वेषादिक से भिन्न अपने ज्ञायक स्वभाव रूप ही में निश्चलता पूर्वक ठहर जाये और रागादिक के वशीभूत न होवे। इसी में मेरा हित है, कल्याण है। यह विचारना ज्ञानाभ्यास है। आत्मा के सत्यार्थ स्वरूप का अनुभव करना ज्ञानोपयोग है। योग्य काल में जिन आगम का पाठ करना, वस्तु स्वरूप का ध्यान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करना, शास्त्रों के अर्थ का चिंतवन करना, विशेष ज्ञानियों तथा गुरुजनों की नम्रता पूर्वक विनय वंदनादिक करना, धर्म जिज्ञासुओं को धर्मोपदेश देना, धर्म के स्वरूप का निर्णय करना, चित्त में संसार देह भोगों का यथार्थ स्वरूप चिंतवन करना, इत्यादिक सब ज्ञानाभ्यास है। ज्ञानाभ्यास से विषय कषायों का अभाव होता है, मन स्थिर होता है अनेक विकल्प नष्ट हो जाते हैं, व्रत संयम से चलायमान नहीं होता। ज्ञानाभ्यास से जिन धर्म की प्रभावना होती है, उत्तम क्षमादि गुणों का आत्मा में विकाश होता है। ज्ञान ही सम्यक्दर्शन उपजाता है, ज्ञान से ही मोक्ष होता है। सम्यक्ज्ञान आत्मा का अविनाशी स्वाधीन धन है। निर्धन के परम निधान प्राप्त करने वाला एक सम्यक्ज्ञान ही है। इसीलिये भगवान का उपदेश है हे भव्यजीवो ! अपनी आत्मा को सम्यक्ज्ञान अभ्यास में ही लगाओ मिथ्याज्ञान का परिहार करो—अपनी संतान को पढ़ावो—दूसरों को विद्या का अभ्यास कराओ। जो धनवान हो और अपने धन को सफल करना चाहें वे पढ़ने पढ़ाने वाले को आजीविकादिक देकर थिरता करावें, पुस्तकें वितीर्ण करें, पुस्तकें लिखवावें, शुद्ध करावें पाठशालायें, विद्यालय आदि स्थापित करें करावें अपने जीवन के समय को निरन्तर शास्त्र पढ़ने पढ़ाने तथा सुनने में व्यतीत करें। जब तक आयु काय इन्द्रियाँ, बल बुद्धि आदिक बन रही हैं, मनुष्य जन्म की एक घड़ी भी सम्यक्ज्ञान बिना मत खोवो, ज्ञान रूप धन परलोक में भी साथ जावेगा।

आगमकथितं अर्थ अवधार।
यथा शक्ति निज बुधि अनुसार॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करें निरन्तर ज्ञान अभ्यास।
तुरिय भावना कहिये तास॥

५. संवेगभावना—संसार के दुःखों से भयभीत होकर संसार देह भोगों से विरक्त होना संवेग है। धर्म में तथा धर्म के फल में अनुराग का होना संवेग है या यह कह दीजिये कि संसार देह से विरक्त होकर धर्म में अनुराग करना संवेग है। संसार जन्म मरण रूप है, अनन्त काल इसी संसारी जीव को इस चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण करते २ व्यतीत हो गया, कहीं भी सुख की प्राप्ति इस जीव को नहीं हुई। पंच इन्द्रियों के विषयों में फंसा यूं ही संसार में भटकता रहा, ये इन्द्रिय विषय निज आत्म स्वरूप को भुलाने वाले हैं, तृष्णा को बढाने वाले हैं, अतृप्तता के करने वाले हैं, धर्म से विमुख करने वाले हैं, कषाय को बढ़ाने वाले हैं, विष के समान है, शरीर क्षण भंगुर है, अपावन है, नाशवान है ऐसे सँसार देह के स्वरूप को जान कर दश लक्षण धर्म में रत्नमय धर्म में, जीव दया में अनुराग करना संवेग है। निज आत्म स्वभावका अनुभव कर उसमें तल्लीन होना प्रशंनीय संवेग है। धर्म का फल स्वर्ग मोक्षादि के सुख की प्राप्ति है। धर्मसहित साधर्मियों को देख हर्षित होना, धर्म की कथनी में आनन्दमय होना, भोगों से विरक्त होना सब संवेग नामा पांचवीं भावना है। इसलिये आत्महित के लिये निरंतर इस भावना को भावों और भावना के आनन्द सहित होकर इसकी प्राप्ति के लिये उपाय करो।

दो०—धर्म धर्म के फलविषै, वर्तैंप्रीति विशेष।
यही भावना पंचमी, लिखी निजागम देख॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

६. शक्तिस्त्याग—मिथ्यात्व आदि अन्तरङ्ग के चौदह प्रकार के परिग्रह और धन धान्यादि बहिरंग के दस प्रकार के परिग्रह का त्याग तो अनेक दीन दारिद्री जीवों के सहज में ही होता है, परन्तु अंतरंग परिग्रह का त्याग बड़ा दुर्लभ है। अंतरंग त्याग के बिना बहिरंग के त्याग से कार्यकी सिद्धि नहीं होती श्रावकों के एक देश त्याग होता है, पूर्णत्याग मुनीश्वरों के ही संभव होता है। इन्द्रिय लंपटता का जीतना त्याग है। कषायोंका जीतना त्याग है जिनेन्द्रके आगम का पठन पाठन करना त्याग है,दुष्ट विकल्पों को छोड़ धर्म चर्चामें चित्त लगाना त्याग है। धर्म का उपदेश देना भव्य जीवों को धर्म मार्ग पर लगाना त्याग है। उत्तम मध्यम जघन्य ऐसे तीन प्रकार के पात्रों को विधि पूर्वक भक्ति के साथ आहार दान देना, प्रासुक औषधि देना, ज्ञान दान देना, तथा वस्तिका दान देना सब त्याग है। जो दान देवे परम भक्ति के साथ, विकसित चित्त होकर, अपने जन्म को कृतार्थ मानते हुवे बड़े आदर भावके साथ देवें। पात्र दान महा भाग्योदय से होता है जिन का भला होना होता है उन के ही होता है। पात्र का लाभ होना अत्यन्त दुर्लभ होता है। यदि पात्रदान हो जावे तो उसकी महिमा अकथनीय है। दुखित भूखित, रोगी दारिद्री बालक बूढ़ा असमर्थ दीन हीन जनों को दया बुद्धि पूर्वक दान देना त्याग है। त्याग से ही मनुष्य जन्म की सफलता है। त्याग बिना गृहस्थ का घर श्मशान के समान है गृहस्थी मृतक समान है और स्त्री पुत्रादिक कुटुम्बी जन गृद्धपक्षी के तुल्य हैं जो उसके मांस को चूंट २ कर खाते है, त्याग को महिमा अचिन्तनीय है। ऐसा जान निरन्तर त्याग भावना को भावो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

औषधि अभय ज्ञान आहार। महादान यह चार प्रकार॥
शक्ति समान सदा निर वहै। छठी भावना धारक वहै॥

७. शक्तिस्तप—यह शरीर अनेक दुखों का कारण है, अनित्य है, अपवित्र है, इसलिये इसकी इच्छानुसार भोगोपभोग के द्वारा इसको पुष्ट करना ठीक नहीं है। यद्यपि यह अपवित्र है तथापि रत्नत्रय रूप गुणों के संचय करने में कुछ उपकार अवश्य करता है ऐसा समझ कर विषय सुखों का सम्बन्ध जिसने बिलकुल छोड़दिया है और जो इस शरीर को एक सेवकके समान अपने आत्मकल्याण करने रूप कार्य में सदा लगाये रखता है, ऐसे साधु का अपनी शक्ति के अनुसार मोक्षमार्ग का विरोध न करने वाला उपवासादिक द्वारा कायक्लेश सहन करना तप है। तप के दो भेद हैं, अन्तरंग तप और बहिरंग तप। अन्तरंग तप प्रायश्चित्त आदि भेद रूप छह प्रकार का है और बहिरंग तप भी अनशनादि भेद रूप छह प्रकार का है। बहिरंग तप अन्तःरंग तप का निमित्त कारण है। तप से इन्द्रियों को दमन किया जाता है, तप से काम रूपी सुभट को जीता जाता है, तप से निद्रा को जीता जाता है। तप से ही शरीर के सुखियापने के भाव को नष्ट किया जाता है, तप कर्म की निर्जरा का मुख्य कारण है। तप से आत्म बल बढ़ता है, तप के द्वारा ही यह जीव घातिया कर्मों को नाश कर केवलज्ञान को प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त करता है। तप दशलक्षण धर्म का एक मुख्य अंग है इस का पालन मनुष्य जन्म में ही हो सकता है। इन्द्र अहमिन्द्रादिक तपधारण करने के लिये तड़पा करते हैं, वे भावना किया करते हैं कि कब वह दिन आवे कि वह मनुष्य जन्म को धारण कर संयम पालें और तपश्चरण द्वारा कर्मों को नष्ट कर परम पद मोक्ष को प्राप्त करें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐसा जान तप भावना को भावो और अपनी शक्ति अनुसार तप का साधन करो।

अनशन आदि मुकति दातार। उत्तम तप बारह परकार ॥
वल अनुसार करे जो कोय। सो सातमी भावना होय" ॥

८. साधु समाधि—जिस प्रकार धन दौलत से भरपूर भंडार में अग्नि लग जाने पर लोग उसे बुझा देते हैं, क्योंकि उस अग्निके बुझा देने से बहुत सा उपकार होता है, उसी प्रकार अनेक व्रत आदि गुणों से सुशोभित मुनीश्वरों के समूह के लिये अथवा किसी एक तपस्वी के लिये यदि किसी कारण से उन के व्रतादिकों में कोई विघ्न आजावे तो उसको दूर करना साधु समाधि है। या ग्रहस्थ के अपने परिणाम बिगाड़ने वाला मरण आजावे, उपसर्ग आजावे, रोग होजावे, इष्ट वियोग हो जावे अथवा अनिष्ट संयोग होजावे तो भय नही करना और सावधान चित्त रहना साधु समाधि है। भव्य जीवों को चाहिये कि सदैव इस भावना को भावें।

यतिवर्ग को कारण पाय। विघ्न होत जो करे सहाय ॥
साधु समाधि कहावै सोय। यही भावना अष्टम होय ॥

९. वैय्याव्रत्य—अनेक गुणों के धारक साधुओं को किसी दुख के उपस्थित हो जाने पर निर्दोष विधि से उनके उस दुख को दूर करना तथा अनेक प्रकार से उनकी टहल, चाकरी सेवा करना वैय्या व्रत्य है। वृद्ध, दुःखी, रोग पीड़ित मुनि तथा श्रावक की निर्दोष आहार औषधि, वस्तिकादि द्वारा सेवा करना, सुश्रुषा, विनय करना, आदर करना दुःख दूर करने का यत्न करना सब वैय्याव्रत्य है। आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण कुल, सँघ, साधु, मनोज्ञ इन दस प्रकार के मुनीश्वरों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की परस्पर वैय्यात्रत्य हुवा करती है, इनकी अपेक्षा से ही वैय्यात्रत के दस भेद कह दिये गये हैं। धर्मात्मा गुणी जन की वैय्यात्रत्य करने से गुणों में अनुराग बढ़ता है, धर्म में प्रीति बढ़ती है, पंचपरमेष्ठी की भक्ति बढ़ती है। वैय्या त्रत्य कर्म निर्जरा का प्रधान कारण है। निस्वार्थ भाव से, भक्ति पूर्वक चतुर्विध संघ की वैय्या त्रत्य करने से भगवान की आज्ञा का पालन, अपने पर के संयम की रक्षा, शुभ ध्यान की वृद्धि, इन्द्रिय निग्रह होते हैं। जिसने वैय्यात्रत्य किया उसने अतिशय रूप दान दिया, निर्विचिकित्सा गुण को प्रगट कर दिखाया, जिनेन्द्र के धर्म की प्रभावना की धन खरच करदेना सुलभ है, रोगी की टहल करना कठिन है। वैय्यात्रत्य से सेवक सेव्य बन जाता है। ऐसे वैय्यात्रत्य के महात्म्य को जान निरंतर वैय्यात्रत्य भावना को भावना परम कल्याण का कारण है।

दश विधि साधु जिनागम कहे। पंथ पीड़ित रोगादिक गहे॥
तिन की जो सेवा सतकार। यही भावना नौमी सार॥

१०. अरहंत भक्ति—अरहन्त परमेष्टी के गुणों में विशुद्ध भावों से प्रेम तथा अनुराग रखना अरहन्त भक्ति है। अरहन्त भगवान् जीवन मुक्त परमात्मा होते हैं, इनमें ४६ गुण पाये जाते हैं, क्षुधा तृषा आदि अठारह दोषों से सर्वथा रहित होते हैं। इन्हीं से धर्मोपदेश मिलता है। इनके दर्शन पूजन से पापों का क्षय और पुण्य का बंध होता है परंपराय से मोक्ष पद की प्राप्ति होती है। अरहन्त भक्ति संसार समुद्र से पार उतारने वाली है, सम्यक्दर्शन में और अरहन्त भक्ति में केवल नाम भेद है, अर्थभेद नहीं है। अरहंत भक्ति समस्त दुखोंका नाश करनेवाली है, इन्द्रियों के विषयोंकी कामना का नाश कर मोक्ष सुखकी कामना को पूर्ण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करने वाली है, ऐसा जान भव्य जीवों को निरन्तर अरहन्त भक्ति की भावना को भावना योग्य है।

"परम पूज्य आतम अरहंत।
अतुल अनंत चतुष्टय वंत ॥
तिन की श्रुति नति पूजा भाव।
दशम भावना भव जल नाव ॥"

११. आचार्य भक्ति—संघ के नायक आचार्यों में विशुद्ध भावों से प्रेम रखना आचार्य भक्ति है। आचार्य मुनि संघ के अधिपति होते हैं। जो आप दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार रूप पंचाचार का पालन करते हैं। और दूसरे मुनियों से पालन कराते हैं, दीक्षा शिक्षा देते हैं। आचार्य अनशनादि १२ प्रकार के वहिरंग अन्तरंग के तप का साधन करते हैं, दश लक्षण धर्म का पालन करते हैं, पंचाचार को पालते हैं, समता वन्दनादि षट आवश्यक कर्मों को नित प्रति साधते हैं और तीनों गुप्तियों का यथा योग्य रीति से पालन करते हैं। आचार्य भक्ति से निर्मल आचरण की प्राप्ति होती है। पापरूप संसार की परिपाटी नष्ट हो अक्षय सुख की प्राप्ति होती है।

चौ०—"जिनवर कथित अर्थ अवधार।
रचना करें अनेक प्रकार॥
आचारज की भक्ति विधान।
एकादशम भावना ज्ञान ॥

१२. बहुश्रुति भक्ति—जिनकी प्रवृत्ति सदा दूसरों का हित करने वाली है और जो अपने आगम तथा परके आगमों को विस्तार पूर्वक जानने के कारण निश्चयनय से कहे जाने योग्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वास्तविक तत्वों के जानकार हैं, ऐसे उपाध्यायों में विशुद्ध भावा से अनुराग व प्रेम रखना बहुश्रुति भक्ति है। उपाध्याय महाराज स्वयं पढ़ते हैं, तथा शिष्यों को पढ़ाते हैं। ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के पाठी होते हैं, निरन्तर श्रुत ज्ञान का दान करते रहते हैं। ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी की भक्ति करना बहुश्रुति भक्ति है।

चौ०—विद्या दायक विद्या लीन। गुण गरिष्ट पाठक परवीन॥
तिनके चरण सदा चित्त रहें। बहुश्रुति भक्ति बारमी यहै॥

१३. प्रवचन भक्ति—सर्वज्ञ, वीतराग, हितोपदेशी देव द्वारा प्ररूपण किये गये आगम में विशुद्ध भावों से अनुराग वा प्रेम रखना प्रवचन भक्ति है स्वाध्याय करना प्रवचन भक्ति है। शास्त्रों का पठन पाठन करना, सुनना सुनाना. व्याख्यान करना बंदना करना लिखना लिखाना संशोधन करना सब प्रवचन भक्ति है। सम्यक्ज्ञान की आराधना वास्तविक प्रवचन भक्ति है, सम्यक्-ज्ञान जीव का परम बांधव है. उत्कृष्ट धन है, परम मित्र है सम्यक्ज्ञान ही स्वाधीन अविनाशी धन है, स्वदेश में; परदेश में सुख अवस्था में, दुःख में, आपदा में, संपदा में. परम शरण भूत एक सम्यक्ज्ञान ही है! प्रवचन की भक्ति बिना मनुष्य पशु समान है। ऐसा जान सदैव प्रवचन की सेवा करो. अपने आत्मा को नित्य ज्ञानदान करो. अपनी संतान को तथा अन्य जिज्ञासुओं को ज्ञानदान करो। ज्ञानके अभ्यास बिना व्यवहार और परमार्थ दोनों विगड़ जाते हैं।

भगवत भाषित अर्थ अनूप।
गणधर ग्रन्थितग्रन्थ सरूप॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तहाँ भक्ति वरतै अमलान ।
प्रवचन भक्ति तेरमी जान ।।

१४. आवश्यकापरिहाणि—आवश्यक नाम अवश्य करने योग्य क्रियाओं का है। आवश्यक क्रियाओं की किसी प्रकार भी हानि नहीं करने का चिंतवन करना, आवश्य का परिहाणि भावना हैं। सामायिक, चतुर्विंशतिस्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये छह मुनियों की आवश्यक दैनिक क्रियायें कहलाती हैं। ग्रहस्थों के षट आवश्यक यह हैं. देव पूजा, गुरु की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप, दान। ग्रहस्थों को भी अपने इन छहों दैनिक आवश्यक कर्मों का पालन करना चाहिये। किसी प्रकार भी इन आवश्यक क्रियाओं के साधन में त्रटि न आने पावे ऐसा विचार करते रहना आवश्यकों की हानि का अभाव रूप चौदहवीं भावना है।

"षट आवश्यक क्रिया विधान।
तिन की कबहू करै न हान।।
सावधान वरतै थिर चित्त।
सो चौदहवीं परम पवित्त" ।।

१५. मार्ग प्रभावना—ज्ञान तपश्चरण और जिन पूजा आदि क्रियाओं के द्वारा धर्म को प्रकाशित करना मार्ग प्रभावना है। अपने आचरण की शुद्धि से मार्ग प्रभावना होती है। कोई भी क्रिया ऐसी नहीं करनी चाहिये जिससे धर्म की निंदा और हंसी होवे। पूजा, दान, तपश्चरण, चारित्र की उज्ज्वलता आदि गुणों द्वारा अन्य जीवों के हृदयस्थल पर जिन धर्म की महिमा की छाप लगाना मार्ग प्रभावना है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"कर जप तप पूजा व्रत भाव ।
प्रगट करे जिन धर्म प्रभाव ॥
सोई मारग पर भावना ।
यहै पंच दशमी भावना" ॥

१६. प्रवचन वात्सल्य—सब से श्रेष्ठ वचनों को प्रवचन कहते हैं। अथवा सबसे उत्तम पुरुष के वचनों को प्रवचन कहते हैं सिद्धांत, अथवा द्वादशांग उसी के नामांतर हैं। उन सिद्धांत शास्त्रों के अनुसार होने वाले देशव्रती, महाव्रती और असंयत सम्यक्दृष्टियों को भी प्रवचन कहते हैं उन सब में अनुराग रखना आकांक्षा रखना; उनमें ममत्व बुद्धि रखना, प्रवचन वत्सलत्व कहलाता है। इस एक ही प्रवचन वत्सलत्व से तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध हो जाता है क्योंकि पंच महाव्रतादि शास्त्रों में कहे हुवे पदार्थों में जो उत्कृष्ट अनुराग है वह दर्शन विशुद्धि आदि पन्द्रहों भावनाओं से अविनाभावी है अर्थात् दर्शन विशुद्धियादि पन्द्रह भावनायें प्रवचन वत्सलत्व के साथ साथ अवश्य रहती हैं। कारण यही है कि बिना पन्द्रह भावनाओं के प्रवचन वत्सलत्व हो ही नहीं सकता इनसोलह कारण भावनाओं में से प्रत्येक भावना बाकी पन्द्रहों भावनाओं की अबिनाभावी है अर्थात् जहां एक भावना पाई जातीं है वहां बाकी की पन्द्रह भी अवश्य रहती है क्योंकि बाकी पन्द्रहों के बिना कोई भी एक नहीं हो सकती। इस प्रकार अच्छी तरह चिंतवन की हुई यह सोलह भावनायें जुदा २ अथवा सब मिलकर तीर्थंकर नाम कर्म के आस्रव होने में कारण होती है। असंयत सम्यक् दृष्टि से लेकर अपूर्व करण गुणस्थान के छह सात भाग तक तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध हो सकता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चौ०—चार प्रकार संघ सों प्रीति । राखै गाय वच्छ की रीति ॥
यही सोलमी सब सुख दाय । प्रवचन वात्सल्य अभिधाय ॥
दो०—सोलह कारण भावना, परम पुण्य को खेत ।
भिन्न भिन्न अरु सोलहों, तीर्थ कर पद हेत ॥

रत्नत्रय-धर्म

सम्यक्त्वबोधचारित्रलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः ।
मुख्योपचाररूपः प्रापयति परं पदं पुरुषम् ॥ २२२॥

सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की एकता होना मोक्ष मार्ग है । इन्हीं को तीन रत्न अर्थात् रत्नत्रय कहते हैं । इनका पालन करना ही मोक्ष का साधन है । यह रत्नत्रय धर्म निश्चय तथा व्यवहारनय की अपेक्षा दो प्रकार का है । निश्चयनय से शुद्धात्मा के सच्चे स्वरूप का श्रद्धान करना सम्यक् दर्शन है । शुद्धात्मा के सच्चे स्वरूप का जानना सम्यक् ज्ञान है, और शुद्धात्मा के स्वरूप में रमना सम्यक् चारित्र है, अर्थात् श्रद्धा और ज्ञान सहित आत्म ध्यान को ही मोक्ष मार्ग कहते हैं । व्यवहार मोक्ष मार्ग निश्चय मोक्ष मार्ग का साधक है । जिनके द्वारा निश्चय रत्नत्रय का लाभ हो, उनको व्यवहार रत्नत्रय कहते हैं । जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सप्त तत्वों के या इनमें पुण्य पाप और मिलाकर नौ पदार्थों के यथार्थ श्रद्धान को सम्यक् दर्शन, तथा जिनेन्द्र प्रतिपादित आगमके ज्ञान को व्यवहार सम्यक्ज्ञान कहते हैं अशुभ मार्गकी निवृत्ति शुभ मार्गकी प्रवृत्ति,व्यवहार सम्यक् चारित्र है ।

इति रत्नत्रयमेतत्प्रतिसमयं विकलमपिगृहस्थेन ।
परिपालनीयमनिशं निरत्ययां मुक्तिमभिलषता ॥२०६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बद्धोद्यमेन नित्यं लब्ध्वा समयं च बोधि लाभस्य।
पदमवलम्ब्य मुनीनां कर्त्तव्यं सपदि परिपूर्णम् ॥२१०॥
असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्म बन्धो यः।
सविपक्षकृतो ऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥२११॥

इस रत्नत्रय धर्म का पालन मुनिराज तो पूर्णतया करते हैं और गृहस्थ एकोदेश करते हैं। दोनों प्रकार का रत्नत्रय मोक्ष का मार्ग है। निश्चय रत्नत्रय साक्षात् मोक्षमार्ग है और व्यवहार परम्परा मोक्ष मार्ग है। ज्ञानी तथा विवेकी जीव गृहस्थ में रहते हुए भी संसार के विषय भोगों से विरक्त, तथा मोक्ष मार्ग के साधन करने में उद्यमी रहते हैं। उन्हें योग्य है कि अवसर प्राप्त होने पर मुनिपद को धारण कर लेवें और सकल रत्नत्रय धर्म का पालन कर मोक्ष पद को प्राप्त करें। जीव तीन प्रकार के होते हैं। बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा। इनमें से बहिरात्मा जीव तो मिथ्या दृष्टि होते हैं, वह शरीर और आत्मा को एक गिनते हैं, तत्वों से अजान होते हैं। इनके सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र नहीं होते। इनके परिणाम द्वेषमई ही हुआ करते हैं। इसलिये इनके सर्वथा कर्म बन्ध अवश्य हुआ ही करता है। अन्तरात्मा—जो आत्मा को जानते हैं, (सम्यक् दृष्टि जीव) ये तीन प्रकार के होते हैं। उत्तम, मध्यम और जघन्य। उत्तम, अन्तरात्मा—जो २४ प्रकार के परिग्रह रहित, शुद्ध परिणामी आत्मध्यानी मुनीश्वर हैं वे उत्तम अन्तरात्मा हैं। मध्यम अन्तरात्मा—पंचम गुणस्थानवर्ती, देशव्रती श्रावक और छठे गुणस्थानवर्ती मुनिराज मध्यम अन्तरात्मा कहलाते हैं। जघन्य अन्तरात्मा—चतुर्थम गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यक् दृष्टि जघन्य अन्तरात्मा कहलाते हैं। अन्तरात्माओं के जितने अंशों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में रागभाव का अभाव होता है, उतने अंशों में ही बन्ध का अभाव भी होता है।

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २१२ ॥
येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २१३ ॥
येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २१४ ॥

इस आत्मा के जिस अंश से सम्यक् दर्शन है, उस अंश से बन्ध नहीं है। जिस अंश से इस आत्मा के सम्यक् ज्ञान है, उस अंश से इसके बन्ध नहीं है। जिस अंश से सम्यक् चारित्र है उस अंश से आत्मा के बंध नहीं हैं। जिस अंश से राग है, उस अंश से इसके बन्ध है।

योगात्प्रदेशबन्धः स्थितिबन्धो भवति यः कषायात्तु ।
दर्शन बोधचरित्रं न योगरूपं कषायरूपं च ॥ २१५ ॥
दर्शनमात्मविनिश्चिति रात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः ।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः ॥२१६॥

अभेद रत्नत्रय की दशा में दर्शन ज्ञान चारित्र एक रूप होकर प्रकाशमान होते हैं, शुद्ध भावों की निश्चल दशा होती है। ऐसी हालत में बन्ध का अवकाश कहां। अर्थात् ऐसो दशा में रागभाव के अभाव के कारण बन्ध होता ही नहीं। तात्पर्य यह है कि जिन अंशों से आत्मा अपने स्वभाव रूप परिणमन करता है, वह अंश सर्वथा बन्ध के हेतु नहीं है, किन्तु जिन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अंशों से यह आत्मा रागादिक विभावरूप परिणमन करता है, वह ही अंश बन्ध के हेतु हैं। इस प्रकार अन्तरात्मायें अपने अपने रागभाव के अनुसार ही कर्मों का बन्ध किया करते हैं। रत्नत्रय बन्ध का कारण नहीं हैं। परमात्मा के दो भेद हैं। सकल परमात्मा—जिन्होंने चारों घातिया कर्मों अर्थात् दर्शनावरणीय, मोहनीय, ज्ञानावरणीय और अंतराय कर्मों का क्षय कर दिया है और लोकालोक को देखने वाले सर्व दर्शी हैं। यह परमात्मा क्षुधा, तृषा, भय, क्रोध, रोग, मोह, चिंता, जरा, जन्म, मृत्यु, स्वेद पसीना) खेद, मद, रति, आश्चर्य, निद्रा, राग, आकुलता, इन अठारह दोषों से सर्वथा रहित होते हैं और समवसरण, अष्ट प्रतिहार्य आदि विभूति संयुक्त होते हैं। परमौदारिक शरीर के धारी सर्वज्ञ, वीतराग, हितोपदेशी, जीवनमुक्त अरहंत भगवान ही सकल परमात्मा हैं। निकल परमात्मा—भाव कर्म, द्रव्य कर्म और नो-कर्म रूप तीन प्रकार के कर्म मल से रहित, निर्मल, शरीर रहित सिद्ध भगवान् ही निकल परमात्मा कहलाते हैं। गाथा—

णट्ठ कम्मदेहो लोयालोयस्यजाण ओदट्ठा।
पुरिसायारो अप्पासिद्धो झाएह लोयसिहरत्थो। (द्रव्यसं०गा०५२)

अर्थात् अष्ट कर्म और औदारिक और पञ्च शरीरों को नष्ट कर चुकने वाला, लोकालोक को जानने वाला तथा देखने वाला, पुरुष के आकार मात्र का धारक और और लोक के अग्रभाग में स्थित आत्मा सिद्ध परमेष्टी है। वह ही ध्यावने योग्य है, वह ही स्मरण करने योग्य है। निश्चयनय से जीव अपने शुद्ध दर्शन ज्ञान, सुख वीर्यमयी स्वभाव में रहने वाला है। अनादि काल से मिथ्यात्व तथा अज्ञान के कारण निज स्वरूप को न जानता हुआ, कर्म जनित अवस्थाओं में ही तन्मय होकर उनके अनुकूल आच-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रण करता हुआ पर समय रूप हो रहा है। यही जीव जब कर्म जनित अवस्थाओं को अपना स्वभाव न जान, अपने निज स्वभाव को भली भाँति पहचान कर, उसमें ही रमण करता है, तो वह वीतराग भाव को बढ़ाता हुआ कर्म के बन्धनों से छूटता चला जाता है और परम्परा से कर्मों से सर्वथा रहित हो मोक्षपद को प्राप्त कर लेता है। अविरत सम्यक्दृष्टि, तथा अणुव्रती सम्यक् दृष्टि और छठे प्रमत्त गुण स्थानवर्ति साधु यद्यपि स्वात्मानुभव में लीन न हों, लौकिक व्यवहार तथा शुभ क्रिया आदि रूप धार्मिक व्यवहार में अपना उपयोग लगाते हों। चारित्र की अपेक्षा उस समय वे स्वसमय रत नहीं हैं, तथापि श्रद्धान व ज्ञान की अपेक्षा वह पर-समय रत नहीं हैं। वे भली भाँति जानते हैं और श्रद्धान रखते हैं कि आत्मा का हित निज स्वभाव में रमण करना ही है; वह जानते हैं कि चारित्र में जो कुछ भी कमी है वह चारित्र मोहनीय कर्म के उदय का कार्य है। मिथ्यादृष्टि सर्वथा भेद विज्ञान से रहित होता है, वह निज आत्मस्वभाव को जानता हुआ, श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण तीनों में ही पर समयरूप है। सर्वथा राग मई परिणाम होने के कारण वह गाढ़ कर्मों के बन्धनों से बन्धता रहता है सराग सम्यक् दृष्टि बहुत कम और वीतराग सम्यक् दृष्टि और भी थोड़े बन्ध को करता है। जब कषाय रहित होकर क्षीण मोह गुण स्थान में शुद्धोपयोगी हो जाता है, तब तुरन्त ही चारों घातिया कर्मों को क्षय करके अरहन्त परमात्मा हो जाता है।

ननु कथमेवं सिध्यति देवायुः प्रभृतिसत्प्रकृतिबन्धः।
सकलजनसुप्रसिद्धो रत्नत्रयधारिणां मुनिवराणाम् ॥२१६॥

रत्नत्रय धारी मुनियों के देवायु आदिक पुण्य प्रकृतियों का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बन्ध होता है, यह सब जानते हैं, परन्तु आप जब रत्नत्रय को निर्बन्ध सिद्ध कर चुके हैं, तब यह बतलाइये कि इन के बंधका कारण क्या कोई और है या यही रत्नत्रय है ?

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य ।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः ॥२२०॥

उत्तर—जहां मुनिराज गुण स्थानों के अनुसार रत्नत्रय की आराधना करते हैं, वहां उनके देव, गुरु, शास्त्र की सेवा; भक्ति और उपवास आदि रूप शुभोपयोग का भी अनुष्ठान होता है, यह शुभोपयोग का अनुष्ठान ही देवायु आदि पुण्य प्रकृतियों के बंध का कारण होता है। इस पुण्य प्रकृति बंध में शुभोपयोग का ही अपराध है, रत्नत्रय का नहीं, रत्नत्रय तो मोक्ष का ही मार्ग है। दृष्टान्त—जैसे घृत आदि पदार्थ स्वभाव से ठंडे होने पर भी अग्नि के संयोग से दाह का कारण हो जाते हैं, तैसे ही यह रत्न-त्रय स्वभाव से तो मुक्ति के कारण हैं। तो भी पंच परमेष्ठी आदि शुभ द्रव्य के आश्रय में होने से पुण्य बंध के कारण कह दिये जाते हैं। वास्तव में तो शुभोपयोग पुण्य बन्ध रूप कार्य में कारण है, और रत्नत्रय मोक्ष रूप कार्य में कारण है।

आगे अष्ट द्रव्य कर्म और उनके बन्ध का संक्षिप्त वर्णन करते हैं। समस्त लोक में पुद्गल परमाणु भरे हुवे हैं, उनमें कार्माण वर्गणा के परमाणु भी हर जगह मौजूद हैं। यह आत्मा जब मन, वचन, कायरूप योगों के द्वारा सकम्प वा कषाय सहित होता है, तब वे कार्माण वर्गणायें कर्म रूप हो कर आत्मा से सम्बन्ध कर लेती हैं। इसी को कर्म बन्ध कहते हैं। उस समय कषाय यदि मन्द होते हैं, तो कर्मों का बंध मंद होता है। और कषाय यदि तीव्र होते हैं, तो कर्म बन्ध भी तीव्र होते हैं, कर्म

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वन्ध चार प्रकार का होता है। प्रकृति बन्ध. स्थिति-बन्ध, अनुभाग वन्ध, प्रदेश बन्ध। इनमें से प्रकृति-बन्ध, और प्रदेश बन्ध तो मन, वचन, काय के योगों की क्रिया से आस्रव पूर्वक होता है, और स्थिति-वन्ध और अनुभाग वन्ध के कारण कषाय ही होते हैं। प्रकृति-बन्ध—प्रकृति नाम स्वभाव का है, जैसे नीम का स्वभाव कडुआ है। और गुड़ का मीठा, कर्मों में आठ प्रकार के स्वभाव का या रसों का पड़ना प्रकृति-बन्ध है। कर्मों की मूल प्रकृतियें आठ हैं ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। **ज्ञानावरणीय**—कर्म की प्रकृति है ज्ञान को ढक देना। इसका स्वभाव परदे के समान है, जैसे परदे के पड़ जाने से वस्तु दिखाई नहीं देती, वैसे ही ज्ञानावरण कर्म की प्रकृति आत्मा से सम्बन्ध कर तत्व ज्ञान को नहीं होने देती। **दर्शनावरणीय**—कर्म की प्रकृति है दर्शन को ढक देना, रोक देना। इसका स्वभाव दरबान जैसा है। जैसे दरबान राजा के दर्शन नहीं होने देता, वैसे ही यह कर्म प्रकृति दर्शन को ढक देती है अर्थात् आत्मा को सामान्य लोक महा सत्ता का ज्ञान नहीं होने देती। **वेदनीय कर्म**—वेदनीय का अर्थ है अनुभव कराना जो कर्म संसारिक सुख दुख की सामग्री जोड़ कर सुख दुख का भोग करावे, उसे वेदनीय कर्म प्रकृति कहते हैं। यह वेदनीय कर्म दो प्रकार का होता है साता वेदनीय, जिसके उदय से शारीरिक मांसिक अनेक प्रकार की सुख रूप सामग्री प्राप्त होती है। दूसरी असातावेदनीय—जिसके उदय से दुःखदायक सामग्री की प्राप्ति होती है। वेदनीय कर्म का स्वभाव शहद लपेटी हुई तलवार के समान है। जैसे वह चाटने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से तो मीठी लगती है परन्तु जिह्वा को काट डालती है, उसी प्रकार वेदनीय कर्म कुछ थोड़ी देर साता दिखा कर फिर असाता से पीड़ित रखता है। **मोहनीय कर्म** का स्वभाव मदिरा जैसा है। जैसे मदिरा जीवों को असावधान (बेहोश) बना देती है, उसी प्रकार मोहनी कर्म आत्माको संसार में पागल सा बना देता है। मोहनी कर्म के दो भेद हैं—दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। इनमें से दर्शन मोहनीय तो आत्मा का दर्शन अर्थात् सम्यक्त गुण का घात करता है, और चारित्र मोहनीय आत्मा के चारित्र गुण का घात करता है। **आयु कर्म** का स्वभाव आत्मा को किसी भी शरीर में नियमित समय तक रोके रखने का है। इसका स्वभाव शिकंजे (काठ) के समान है। जैसे शिकंजे में पांव को अटका देते हैं, और शिकंजे से पांव को निकाल कर चोर आदि भाग नहीं सकते, वैसे ही आयु कर्म के पूर्ण हुए बिना जीव नरकादि से निकल नहीं सकते। **नाम कर्म**—का स्वभाव चित्रकार क समान है—जैसे चित्रकार नाना प्रकार के आकार बनाता है उसी प्रकार नाम कर्म आत्मा से सम्बन्ध करके नाना प्रकार के मनुष्य तिर्यचादिक आकार बनाता है। शरीर, संहनन, संस्थान अङ्गोपाङ्ग, जाति आदि का निर्माण नाम कर्म ही से होता है। **गोत्रकर्म** का स्वभाव कुम्भकार के समान है। जैसे कुम्भकार छोटे, बड़े नाना प्रकार के बर्तन बनाता है, उसी प्रकार गोत्रकर्म उच्च नीच गोत्रों में जीव का व्यवहार कराता है। जिस कर्म के उदयसे लोक पूज्य कुलमें जन्म होता है, उसे उच्च गोत्रकर्म कहते हैं। और जिसके उदय से निंद्य, दारिद्री अप्रसिद्ध, दुःखोंसे आकुलित, नीच कुल में जन्म होता है उसे नीच गोत्र कर्म कहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्तराय कर्म का स्वभाव राजा के उस भण्डारी के समान है, जो राजा के दिलाने पर भी किसी को दान नहीं देता। जैसे भण्डारी भिक्षुकों को दान का लाभ नहीं होने देता, उसी प्रकार अन्तराय कर्म जीवों के दान, लाभादि में अन्तराय डाल देता है। इन में से ज्ञानावरणी, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ये चारों तो घातिया कर्म कहलाते हैं. क्योंकि यह आत्मा के ज्ञानादि गुणों का घात करने वाले हैं। बाकी चारों कर्म अर्थात वेदनीय आयु, नाम और गोत्रकर्म अघातिया कर्म कहलाते हैं। इनमें आत्मा के गुणों के घात करने की तो शक्ति नहीं होती, तो भी घातिया कर्मों के सहायक जरूर हैं। प्रदेश बन्ध-उक्त आठ प्रकार के कर्मों का आत्मा के प्रदेशों से एक क्षेत्रावगाह रूप से, संख्या को लिये हुवे, सम्बन्ध होना, प्रदेश बन्ध है। स्थिति बन्ध-आत्मा के साथ कर्मों के बन्ध रहने की मर्यादा को कहते हैं। जो कर्म बन्ध को प्राप्त हुवा, वह कितने काल तक आत्मा के साथ रहेगा, इसी का नाम स्थिति बन्ध है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय इन चारों की उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ा कोड़ी सागर की है। मोहनीय कर्म के दो भेद हैं, दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय इन में से दर्शन मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोड़ा कोड़ी सागर की है, और चारित्र मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति २० कोड़ा कोड़ी सागर है। नाम और गोत्र कर्म दोनों की उत्कृष्ट स्थिति २० कोड़ा कोड़ी सागर की है। आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागर की है। जघन्य स्थिति इस प्रकार है। वेदनीय की १२ मुहूर्त, नाम, गोत्र की ८ मुहूर्त और बाकी सब कर्मों की १ मुहूर्त है। इस प्रकार उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति बतलाई गई। मध्यम स्थिति के अनेक भेद हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुभागबन्ध—उपर्युक्त आठों कर्मों के विपाक होने को अर्थात् उदय में आकार रस देने के शक्ति की हीनाधिकता होने को अनुभाग बंध कहते हैं। घातिया कर्म सब ही अशुभ हैं। परंतु अघातिया कर्म सब ही अशुभ नहीं हैं, उनमें से साता वेदनीय, शुभ आय शुभ नाम और उच्च गोत्र शुभ हैं। अशुभ अघातिया कर्म प्रकृतियों में नीम काँजी, विष तथा हलाहल के समान उत्तरोत्तर फल देने की शक्ति है। शुभ प्रकृतियों में भी गुड़, खांड, मिश्री तथा अमृत के समान उत्तरोत्तर फल देने की शक्ति है। घातिया कर्मों में लता, दारु, अस्थि और पाषाणरूप फल दान शक्ति होती है। जितने जितने कषाय पुष्ट होते हैं, उतनी २ ही कर्मों की स्थिति ज्यादह ज्यादह होती है, और जितनी जितनी कषाय निर्बल अथवा मन्द होती हैं, उतनी २ ही कर्मों की स्थिति हीन होती है, परन्तु आयु कर्म में नरक की स्थिति तीव्र कषाय से अधिक पड़ती है। शुभ आयु कर्म की स्थिति मंद कषाय से अधिक व तीव्र कषाय से कम पड़ती है। पाप कर्मों का रस या अनुभाग तीव्र कषाय से अधिक व मन्द कषाय से कम, तथा पुण्य कर्मों का अनुभाग मन्द कषाय से अधिक व तीव्र कषाय से कम पड़ता है। प्रकृति बंध में जो कर्मों की आठ मूल प्रकृतियें बतलाई गई हैं उन में से ज्ञानावरण के पांच, दर्शनावरण के नौ, वेदनीय के दो, मोहनीय के २८, आयु कर्म के चार, और अंतराय कर्म के पांच भेद हैं नाम कर्म की ४२ प्रकृतियों के भेदानुभेद करने से कुल प्रकृतियें नाम कर्म की ६३ हो जाती हैं। इस प्रकार आठों कर्मों की कुल प्रकृतियें १४८ होती हैं। (जो कर्म प्रकृतियों के सम्वंध में विशेष जानना चाहें वह तत्वार्थ सूत्रजी या गोमट्टसार कर्मकांड से देखें) इन १४८ प्रकृतियों में से बंध दशा में अभेद विवक्षा से १२०, उदय में १२२, और सत्व में १४८ ही हैं। इनमें से मिथ्या

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दृष्टि के तीर्थंकर प्रकृति, आहारक शरीर प्रकृति, और आहारक अङ्गोंपाङ्ग नाम की प्रकृति इन तीनों प्रकृतियों को छोड़ कर ११७ का बंध हुआ करता है।

सम्यक्त्वचरित्राभ्यां तीर्थकराहारकर्म्मणो बन्धः
योऽप्युपदिष्टः समयेन नयविदां सो ऽपि दोषाय ॥२१७॥

यहां यह प्रश्न होता है कि जब पहले यह कह चुके हैं कि रत्नत्रय मोक्ष रूप ही है, बंध का कारण नहीं है, तो इन तीनों प्रकृतियों का बंध सम्यक्त में कैसे होता है? इस प्रश्न का सामाधान यह ही है कि सम्यक्त के दो भेद है, एक सराग सम्यक्त, दूसरा वीतराग सम्यक्त। सराग सम्यक्त कुछ रागभाव से युक्त होता है, और वीतराग सम्यक्त रागभाव मुक्त होता है। इसलिए सराग सम्यक्त में ही रागभाव के मेल के कारण ही इन तीनों प्रकृतियों का बंध होता है, वीतराग सम्यक्त में नहीं। सराग सम्यक्त में तथा चारित्र में ही योग और कषायों के संयोग से इनका बंध होता है। बंध का कारण योग और कषाय ही हैं, सम्यक्त और चारित्र तो उदासीन रूप हैं।

सति सम्यक्त्वचरित्रे तीर्थकराहार बन्धकौ भवतः।
योगकषायौ नासति तत्पुनरस्मिन्नुदासीनम् ॥ २१८ ॥

उदाहरण—जैसे महामुनीश्वरों के समीपवर्ती जाति विरोधी जीव अपने अपने वैर भाव को त्याग देते हैं, परंतु मुनिराज इस वैर-भाव त्यागरूप कार्य के न तो कर्ता ही है और न अकर्ता ही हैं। कर्ता तो इस कारण नहीं हैं कि वे ध्यानारूढ़ परम उदासीन वृत्ति के धारक बाह्य कार्यों से सर्वथा पराङ्मुख होते हैं। अकार्ता इस कारण नहीं है कि यदि मुनिराज न होते तो परस्पर जति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विरोधी जीव वैर भाव को नहीं त्यागते इसलिये वह तो कर्ता अकर्ता न होकर उदासीन ही है। इसी प्रकार तीर्थंकर प्रकृति-बंध आहारक प्रकृति-बंध में सम्यक्त तथा चारित्र उदासीन ही होते हैं। इस प्रकार रत्नत्रय मोक्ष रूप ही है, पुण्य प्रकृति के बंध का कारण कदापि नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि राग अंश मात्र भी मोक्ष मार्ग में बाधक है। अभेद रत्नत्रय ही साक्षात मोक्ष का कारण है। वीतराग रूप शुद्धोपयोग के विना संसार से मुक्त होना असंभव है। आत्मा में स्थिरता ही मोक्ष का कारण है, मुक्ति का लाभ जब ही होगा जब कि निर्विकल्प समाधि का लाभ होगा। निर्विकल्प समाधि की दशा को स्वर्गीय पं० दौलतरामजी ने अपने छहढाले में मनोहर शब्दों में दर्शाया है।

"जिन परम पैनी सुबुधि छैनी डार अन्तर भेदिया।
वरणादि अरु रागादि तें निज भाव को न्यारा किया॥
निज माहिं निज के हेत निज कर, आपको आपै गह्यो।
गुण गुणी ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय, मंझार कछु भेद न रह्यो॥१॥
जहां ध्यान ध्याता ध्येय को, न विकल्प बच भेद न जहां।
चिद्भाव कर्म चिदेश कर्ता, चेतना किरिया तहां॥
तीनों अभिन्न अखिन्न शुद्ध, उपयोग की निश्चल दशा।
प्रगटी जहां दृग ज्ञान व्रत, ये तीन धा एकै लसा॥२॥
परमाण नय निक्षेप को, न उद्योत अनुभव में दिपै।
दृग ज्ञान सुख बल मय सदा, नहि आन भाव जु मो विषै॥
मैं साध्य साधक मैं अबाधक, कर्म अरु तसु फलनि तैं।
चितपिंड चंड अखंड सुगुण करंड, च्युत पुनि कलनि तैं॥३॥
यो चिन्त निज में थिर भये, तिन अकथ जो आनन्द लह्यो।
सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा, अहमिंद्र कै नाही कह्यौ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तब ही शुकल ध्यानाग्निकर, चउ घात विधि कानन दह्यो।
सब लख्यौ केवल ज्ञानकर, भविलोक को शिवगम कह्यो ॥४॥
फुनि घाति शेष अघाति विधि, छिन मांहि अष्टम भू वसे।
वसु करक विनशे सुगुण वसु, सम्यक्त आदिक सब लसे॥
संसार खार अपार पारावार तरि, तीरहिं गयो।
अविकार अकल अरूप शुचि, चिद्रूप अविनाशी भयो ॥५॥
निज माहिं लोक अलोक गुण, पर्याय प्रतिबिंबित ठये।
रहि है अनन्तानन्त काल, यथा तथा शिव परणये॥
धन धन्य है जे जीव, नर भव पाय यह कारज कियो।
तिनही अनादि भ्रमण पंच प्रकार तजि वर सुख लियो ॥६॥
मुख्योपचार दुभेद यों बड़ भाग रत्नत्रय धरें।
अरु धरेंगे ते शिव लहैं, तिन सुयश जल जग मल हरें" ॥७॥

जब मुनिराज पूर्ण स्वरूपाचरण के समय भेद ज्ञान रूपी बहुत तेज़ छैनी से अपने अन्तरंग का परदा तोड़ कर और शरीर के वर्णादि बीस गुणों और राग द्वेष, क्रोध मान आदि भावों से अपने आत्मिक भावों को जुदा करके, अपने आत्मा में अपने आत्म हित के लिये; अपने आत्मा के द्वारा अपने आत्मा को आप ही ग्रहण करते हैं, तब गुण गुणी, ज्ञाता ज्ञान, ज्ञेय में कुछ भेद नहीं रह जाता है, अर्थात् ध्यान मय अवस्था में सब एक हो जाते हैं, विकल्प मिट जाता है। जिस, आत्म ध्यान की अवस्था में न ध्यान का, न ध्याता का और न ध्येय का कोई भेद है, और न बचन से कहने योग्य ही इनमें भेद है। उस समय तो चेतना भाव ही कर्म, चेतना ही कर्ता और चेतना ही क्रिया है। यहां कर्ता, कर्म, क्रिया भाव बिलकुल जुदा नहीं है। यहां तो शुद्ध भाव की स्थिर दशा है, जिसमें दर्शन, ज्ञान चारित्र भी एक रूप होकर प्रकाशमान हो रहे हैं। जिस ध्यान अवस्था में प्रमाण, निक्षेप का प्रकाश अनुभव में नहीं आता। यही अन-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भव होता है कि मैं दर्शन, ज्ञान, सुख वीर्य रूप हूं, मेरे में दूसरा अन्य कोई भाव नहीं है। मैं ही साध्य हूं और मैं ही साधक हूं, तथा कर्म और कर्म फल से रहित भी मैं ही हूं। मैं चैतन्य पिंड हूं और मैं ही प्रचंड, खंड रहित उत्तम गुणों का पिटारा हूँ और सर्वपापों से भिन्न हूं। इस प्रकार मुनिराज जब आत्म ध्यान में लीन होते हैं तो उस दशा में जो अकथनीय आनन्द उनको प्राप्त होता वह आनंद न तो इन्द्र अहमिन्द्र को प्राप्त होता है और न नागेन्द्र को मिलता है और न चक्रवर्ती को कभी प्राप्त होता है। उस समय वह शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा चार घातिया कर्म रूपी बन को भस्म कर, केवल ज्ञान को प्राप्त करते हैं और उसके द्वारा तीन काल की बातों को जानकर भव्य जीवोंको मोक्ष मार्ग का उपदेश करते हैं। यह उनकी अरहन्त अवस्था कहलाती है। इसके बाद आयु कर्म के पूर्ण होने पर आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय इन चार अघातिया कर्मों का क्षण भर में नाश कर मोक्ष पद को प्राप्त कर लेते हैं। इन अष्ट कर्मों का नाश हो जाने से उनमें सम्यक्त आदि अष्ट गुण प्रगट हो जाते हैं। जैसे मोह के नाश से सम्यक्त, ज्ञानावरणीय के नाश से ज्ञान दर्शनावरणीय कर्म के नाश से दर्शन, अन्तराय के नाश से वीर्य, आयु के नाश से अवगाहना नामकें नाश से सूक्ष्मत्व, गोत्र के नाश से अगुरु लघुत्व, और वेदनीयके नाश से अव्याबाधत्व गुण प्रकट होते हैं। ऐसे वे कर्म रहित परमात्मा संसार रूपी समुद्र से तरकर पार पहुँच जाते हैं, सब प्रकार के विकारों से शरीरादिक से रहित अमूर्तिक हो शुद्ध चैतन्य मय अविनाशी सिद्ध होजाते हैं। सिद्ध भगवानकी आत्मा में तीनलोक और अलोक अपने गुण पर्याय सहित ऐसे झलकते हैं जैसे दर्पण में अनेक पदार्थ झलकते हैं। मोक्ष में जैसे और सिद्ध हैं, वैसे ही यह भी अनंतानंत काल तक रहेंगे। वे जीव धन्य हैं जिन्होंने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मनुष्य भव को पाकर ऐसा कार्य किया। ऐसे ही जीवों ने अनादि काल से चले आये पंच परावर्तन रूप संसार को त्याग कर उत्तम सुख की प्राप्यि की है ! वास्तव में जैन धर्म के अनुसार मुक्ति आत्मा का शुद्ध स्वरूप है। इस दशा में जीव कर्मों से सर्वथा रहित हो सिद्ध पद को प्राप्त कर लेता है। मोक्ष दशा में यह जीव अपने स्वभाव में स्थिर रहता है।

एकस्मिन् समवायादत्यन्तविरुद्धकार्य्ययोरपि हि।
इहदहति घृतमिति यथा व्यवहारस्तादृशोऽपिरूढिमितः।२२१।

नित्यमपि निरुपलेपः स्वरूपसमवस्थिता निरुपघातः।
गमनमिव परमपुरुषःपरमपदे स्फुरति विशदतमः ॥२२३ ॥

कृतकृत्यः परमपदे परमात्मा सकलविषयविषयात्मा।
परमानन्दनिमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव ॥ २२४

और कृतकृत्य हो जाता है अर्थात् जो कुछ करना था वह कर चुकता है और कुछ करना बाकी नहीं रहता। जिस प्रकार आकाश रजयुक्त नहीं होता; अपने स्वभाव में स्थित रहता है, किसी के द्वारा घाता नहीं जाता और अत्यंत निर्मल होता है, उसी प्रकार मुक्तात्मा अपनी निरावरण अनंत शक्ति सहित, अपने अनंत दर्शन तथा अनंतज्ञान स्वरूप को लिये, परमज्ञानानंद में अतिशय मग्न, निरंतर ही लोक के शिखर स्थित मोक्ष स्थान में प्रकाशमान होता है। कविवर पं० बनारसी दास जी ने सिद्ध भगवान की स्तुति इस प्रकार की है।

अविनाशी अविकार परम रस धाम हैं।
समाधान सर्वज्ञ सहज अभिराम हैं ॥

शुद्ध बुद्ध अविरुद्ध अनादि अनंत हैं।
जगत शिरोमणि सिद्ध सदा जयवंत हैं॥ १॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कृपया इस ग्रन्थको निम्नांकित तिथि पर या उसके पूर्व
लौटा दें। विलम्बसे लौटानेपर ५ पैसे
प्रतिदिन दण्ड देना होगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हमारे प्रकाशन

१—श्री समयसारजी मूल हिन्दी अर्थ सहित	२)
२—श्री पुरुषार्थसिद्धयुपाय	१॥)
३—जीवनधर चरित्र छन्द ब० हिं०	१)
४—वरांग चरित्र छन्द ब० हिन्दी	१)
५—पूजा पाठ संग्रह प्रथम भाग	।≡)
६—पूजा पाठ संग्रह द्वितीय भाग	१)

नानकचन्द जैन बी. ए. एल. एल, बी.
एडवोकेट
मंत्री प्रकाशन विभाग
रोहतक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi